

समर्पण

पित, आज उसको हुए अष्टाविंशति वर्ष,
दीपावली-प्रकाश में जब तुम गये सहर्ष ।
मूल गये वह दुख-मुख, निरानन्द-आनन्द;
शैशव में तुमसे सुने याद रह ये छन्द—

“हम नाकर रघुवीर के, पट्टी लिखी दरबार,
अब तुलसी का होर्हिंगे नर के मनसबदार ?
तुलसी अपने राम को रीम भजो वै खीझ,
उलटो तूथो उंगि है लेत परे की बीझ ;
बनें सो रघुवर तो बनें, वै विगर्ह भरपूर,
तुलसी बनें जो और रो, ता बनिंद मेरे ।
चामत कुर्ताहि मियावही, आन धर्म जिन लेह,
मेरे कुल की बानि है स्वांति दंद सो नेहु ।”

स्वयं तुम्हारा वह वयन भूला नहीं लकाम—

“यही चल्पना भी सप्तव, जहाँ हमारे राम ।”

तुमने इम जन के निए बया व्या किया न हाय !

बना तुम्हारी तृसि का मुभसे कौन उगाय ?

तुम दयालु थे दे गंव कविना का वरदान,

उमके फल का पिण्ड यह लो निज प्रमुगगान ।

आज आद वे दिन तुम्ह, थदा-भक्ति-समेत ;

अर्पण बरना हैं यही निज कवि-धन ‘भाषेत’ ।

अनुचर—

मैथिलीशरस्गु

“परिशाशाय साधूना, । विनाशाय च दुष्कृताम् ,
थर्मं मंस्यापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ।”

● ● ●

“इदं पवित्रं पापम् पुर्यं वेदेश्च सम्मितम्
यः पठेद्रामचरितं सर्वंपार्थः प्रमुच्यने ।”

● ● ●

“त्रेताया वर्तमानायां कालः पूर्वसमोऽनवर्त् ,
रामे राजनि थर्मजे सर्वभूतं सुखावहे ।”

● ● ●

“निर्देषमभवन्वंमाविष्टृतगुणं जगद् ,
अन्वगादिय, हि स्वर्गो गा गतं पुरुषोत्तमम् ।

“कल्पभेद हरि चरित सुहाये ,
भाँति अनेक मुनीसन गाये ।”

❀ ❀ ❀

“हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता ;
कहहि, सुनहि, समुझहि सुति-सन्ता ।”

❀ ❀ ❀

“रामचरित जे सुनत अधाही ,
रस विशेष जाना तिन्ह नाही ।”

❀ ❀ ❀

“भरि लोचन विलोक अवधेसा ,
तव सुनिहों निरगुन उपदेशा ।”

निवेदन

इच्छा थी कि सबके अन्त में, अपने सहूदय पाठ्यों और साहित्यन बन्धुओं के सम्मुख “सावेत” समुपस्थित बरके अपनी धृष्टता और चमलताओं के लिए क्षमायाचना पूर्वक विदा लूँगा। परन्तु जो जो लिखना चाहता था, वह आज भी नहीं लिखा जा सका और शरीर शियिल हो पड़ा। अतएव, गाज ही उस अभिलाया को पूर्ण कर लेना उचित समझता है।

परन्तु किरभी मेरे मन वी न हुई। मेरे अनुज श्रीसियारामशरण मुझे अवकाश नहीं लेने देना चाहते। वे छोटे हैं, इसलिए मुझपर उनका बड़ा अधिकार है। तथापि, यदि अब मैं कुछ लिख सका तो वह उन्हींकी बेगार होगी।

उनकी अनुरोध-रक्षा में मुझे सन्तोष ही होगा। परन्तु यदि मुझे पहले ही इस स्थिति वी सम्भावना होती तो इसे और भी पहले पूरा करन का प्रयत्न बरता और मेरे बृपालु पाठकों को इतनी प्रतीक्षा न करनी पड़ती। निससन्देह पन्द्रह-सोनह वर्ष बहुत होते हैं तथापि इस धीमे मे अनेक फेर-फार हुए हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

आचार्य पूज्य द्विवेदीजी महाराज के प्रति अपनी वृत्तशता प्रवर्ट करना मानो उगकी कृपा ना गूल्य निर्धारित बरने वी दिलाई करना है।

वे मुझे न अपनाते तो मैं आज इस प्रकार, आप लोगों के समक्ष खड़े होने में भी समर्थ होता या नहीं कौन कह सकता है ।

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ?—
महावीर का यदि उन्हे मिलता नहीं प्रसाद ।

विज्वर वाहंस्पत्यजी महोदय ने आरम्भ से ही अपनी मार्मिक सम्मतियों से इस विषय में मुझे छृतार्थ किया है । अपनी शक्ति के अनुसार उनमें जितना लाभ मैं उठा सका, उसीको अपना सौभाग्य मानता हूँ ।

भाई वृष्णिदास, अजमेरी और सियारामशरण की प्रेरणाएँ और उनकी सहायताएँ मुझे प्राप्त हुईं तो ऐसा होना उचित ही था । स्वयं वे ही मुझे प्राप्त हुए हैं ।

“सावेत” के प्रकाशित अशो को देख-भुनकर जिन मित्रों ने मुझे उत्साहित किया है, मैं हृदय से उनका आभारी हूँ । खेद है उनमें से गणेशशरवर जैसा बन्धु अब नहीं ।

समर्थ सहायकों को पाकर भी अपने दोपों के लिए मैं उनको थोट नहीं ले सकता । किसीको सहायता से लाभ उठा से जाने में भी तो एक क्षमता चाहिए । अपने मन के अनुकूल होते हुए भी कोई कोई बान बहुकर भी मैं नहीं वह सका । जैसे नवम सर्ग में ऊर्मिला का चित्रकूट-मन्दन्वी यह सस्मरण—

मैंभली माँ से मिल गई क्षमा तुम्हें क्या नाथ ?

‘पीठ ठोककर ही पिये, मानें माँ के हाथ ।’

परन्तु इसीके साथ ऐसा भी प्रसग आया है कि मुझे स्वयं

अपने मन के प्रतिकूल ऊमिला का वयन लिखना पड़ा है—

मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी ।

मन ने चाहा कि इसे यो कर दिया जाय—

मेरे मानस के हस, आज बनचारी ।

परन्तु इसे मेरे ब्रह्म ने स्वीकार नहीं किया । यो, मैं स्वयं नहीं जानता ।

ऊमिला के विरह-वण्णन की विचार-धारा मेरी मैंने स्वदृढ़ता से काम लिया है ।

यो तो “सावेत” दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था, परन्तु नवम सर्ग मेरे सब भी कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार आज भी यह अधूरा है । यह भी अच्छा ही है । मैं चाहता था कि मेरे साहित्यिक जीवन के साथ ही “सावेत” पी समाप्ति हो । परन्तु जब ऐसा नहीं हो सका, तभी ऊमिला की निश्चोक आशा निराशा मरी उक्तियों के साथ उनका क्रम बनाये रखना ही मुझे उचित जान पड़ता है—

कमल, तुम्हारा दिन है और बुमुद, यामिनी तुम्हारी है, कोई हताश क्यों हो, आती सबको समान बारी है । धन्य कमल, दिन जिसके, धन्य बुमुद, रात साथ मेरी जिसके, दिन और रात दोनों होते हैं हाय । हाय मेरी किसके ?

जय देवमन्दिर - देहली
सम-भाव से जिसपर चढ़ी ,—
नृप-हेममुद्रा और रक्त्वराटिका !
मुनि-मत्य-सौरभ की कली—
कवि - नरपना जिसमे बढ़ी ,
फूले फूले साहित्य की वह वाटिका ।

सूची

✓ प्रथम सर्ग	४	(७)
✓ द्वितीय सर्ग		(८)
✓ तृतीय सर्ग		(९)
✓ चतुर्थ सर्ग		(१०)
पचम सर्ग		१२४
षष्ठी सर्ग	४	१५६
सप्तम सर्ग		१८७
अष्टम सर्ग		२२०
नवम सर्ग	४	२६७
दशम सर्ग	४	३४३
एकादश सर्ग		३८८
द्वादश सर्ग		४५०

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कही हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ;
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।

साकेत

मंगलाचरण

जयति कुमार-अभियोग-गिरागौरी-प्रति ,
स-नारण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं—
“देखो श्रम्य, ये हेरम्य मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं ।
गोद भरे भोदक घरे हैं, सविनोद उन्हें
सूँड से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं ,
देते नहीं, कन्दुक-सा ऊपर उछालते हैं ,
ऊपर ही खेलकर, खेलकर खाते हैं !”

थ्रीगणेशाय नम

साकेत

प्रथम सर्ग

अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे ,
इधर भी निज वरद-पाणि पसारदे ।
दास की यह देह-तन्त्री सार दे ,
रोम - तारो मे नई भकार दे ।
बैठ, आ, मानस-मराल सनाथ हो ,
भार-वाही कण्ठ-केकी साथ हो ।
चल अयोध्या के लिए, सज साज तू ,
माँ, मुझे कृतकृत्य कर दे आज तू ।

स्वर्ग से भी आज भ्रुलत वढ गया ,
 भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ गया ।
 { हो गया निर्गुण सगुण-साकार है ,
 { ले लिया अखिलेश ने अवतार है ।
 किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया ?
 मनुज बनकर मानवी का पथ पिया ?
 भक्त-वत्सलता इसीका नाम है ,
 { और वह लोकेश लाला-धाम है ।
 पथ दिखाने के लिए सत्तार को ,
 दूर करने के लिए भू-भार को ,
 सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ ,
 क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टिया ?
 असुर-शासन शिशिर-मय हेमन्त है ,
 { पर निकट ही राम-राज्य-वसन्त है ।
 पापियों का जान लो अब अन्त है ,
 भूमि पर पकटा अनादि अनन्त है ।
 { राम सीता, धन्य धीरगम्बर-इला ,
 जीर्ण-सह सम्पत्ति, लक्ष्मण-ऊर्मिला ।
 भरत वर्ती, माण्डवी उनकी क्रिया ,
 कीर्ति-सी श्रुतिकीर्ति शत्रुघ्नप्रिया ।

धृत्य की है चार जैसी पूर्तियाँ ,
 ठीक वैसी चार माया-मूर्तियाँ ।
 धन्य दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष है ,
 धन्य भगवद्भूमि - भारतवर्ष है ।

(देख लो, साकेत नगरी है यही ,
 | स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही ।

केतु-पट अचल-सदृश है उड़ रहे ,
 कनक-कलशों पर अमर-हण जुड़ रहे ,
 सोहती हैं विविध - शालाएँ बड़ी ,
 छन उठाये भित्तियाँ चिनित खड़ी ।
 गेहियो के चारू-चरितों की लड़ी ,
 छोड़ती है छाप, जो उनपर पड़ी ।
 स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बने ,
 इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तने ।
 देव-दम्पति अट्ट देख सराहते ,
 उत्तरकर विश्राम करना चाहते ।
 फूल-फलकर, फैलकर जो है बड़ी ,
 दीर्घं छज्जो पर विविध बेले चढ़ी ।

पीरक याएँ प्रसून - स्तुप बर ,
 वृष्टि करती हैं यही से भूप पर ।
 फूल - पत्ते हैं गवाक्षो मे कुँड़े ,
 प्रकृति से ही वे गये मानो गढ़े ।
 दामनी भीतर दमकती है कभी ,
 चन्द्र की माला चमकती है वभी ।
 सर्वदा स्वच्छन्द छज्जो के तले ,
 प्रेम के आदर्श पारावत पले ।
 केश रचना के सहायक हैं शिखी ,
 चित्र मे मानो अयोध्या है लिखी ।

हृष्टि मे वैभव भरा रहता सदा ,
 धारण मे आमोद है बहता सदा ।
 ढालते है शब्द श्रुतियो मे सुधा ,
 स्वाद गिन पाती नही रसना-सुधा ।

कामरूपी वारिदो के चित्र से ,
 इन्द्र की अमरावती के मित्र से ,
 कर रहे नृप शौध गगन स्पर्श है ,
 शिल्प - कीशल के परम आदर्श है ।

कोट-कलशो पर प्रणीत विहग हैं,
 ठीक जैसे रूप, वैसे रग हैं।
 वायु की गति गान देती है उन्हे,
 वाँसुरी की तान देती है उन्हे।
 ठौर ठौर अनेक अध्वर-रूप हैं,
 जो सुसवत् के निदशन-रूप हैं।
 राघवो की इन्द्र-मैत्री के बडे,
 वेदियो के साथ साक्षी से खडे,
 मूर्तिभय, विवरण समेत, जुदे जुदे,
 ऐतिहासिक वृत्त जिनमे हैं खुदे,
 यद तद विशाल कीर्ति-स्तम्भ है,
 दूर करते दानवो का दम्भ हैं।

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
 किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ?
 वह मरो की मान पुर उतारती,
 मह यही से जीवितो को तारती।
अग्राग पुरागनाओ के धुले,
 रग देकर नीर मे जो हैं धुले,

दीप्ते उनसे विचित्र तरण हैं,
कोटि शक्ति-शरण होते भग हैं।
है बनी मावेत नगरी नागरी,
और मात्तिक-भाव से मर्यू भरी।
पुण्य की प्रत्यक्ष धारा वह रही,
पर्शं-बोमल वल-व्यान्सी वह रही।
तीर पर हैं देव-मन्दिर मोहते,
भावुकों के भाव मन को मोहते।
आस-धाम लगी वहीं फुलवारियाँ,
हँस रही हैं खिलखिलाकर व्यारियाँ।

है अयोध्या अवनि की अमरावती,
इन्द्र हैं दशरथ विदित वीरदत्ती,
बैजयन्त विशाल उनके धाम हैं,
और नन्दन वन वने आराम हैं।

एक तरु के विविध गुमनो-से गिले,
पौरजन रहते परम्पर हैं मिले।
स्वस्थ, गिरित, शिष्ट, उद्योगी सभी,
वाह्यभोगी, आन्तरिक योगी सभी।

व्याधि की वाधा नहीं तन के लिए ,
 अूधि की शका नहीं मन के लिए ।
 चोर की चिन्ता नहीं धन के लिए ,
 सर्व सुख है प्राप्त जीवन के लिए ।
 एक भी आँगन नहीं ऐमा यहाँ ,
 शिशु न करते हो कलित क्रीडा जहाँ ।
 कौन है ऐसा अभागा गृह कहो ।
 माथ जिसके अश्व-गोशाला न हो ?
 धान्य-धन परिपूर्ण सरके धाम हैं ,
 रगशाला - मे मजे अभिराम है ।
 नागरों की पानता, नव नव कला ,
 क्यों न देंग्रानन्द लोकोत्तर भला ?
 ठाट है सर्जन धर या घाट है ,
 लोक-लक्ष्मी की विलक्षण हाट है ।
 सिक्क, सुजित-पूरण मार्ग अकाट्य हैं ,
 धर सुधर नेपथ्य, बाहर नाट्य हैं !

अलग रहती है सदा ही इतियाँ ,
 भटकती हैं शून्य मे ही भीतियाँ ।

नीतियों के साथ रहती रीतियाँ ,
पूर्ण हैं राजा-प्रजा की प्रीतियाँ ।
पुत्र रूपी चार फल पाये यही ,
भूप को अब और कुछ पाना नहीं ।
वस यही सकल्प पूरा एक हो ,
शीघ्र ही श्रीराम का अभिषेक हो ।

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ ;
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ ।
क्योंकि उसके आग पीले पड़ चले ;
रम्य - रत्नाभरण ढीले पड़ चले ॥

एक राज्य न हो, वहुत से हो जहाँ ,
राष्ट्र का बल विखर जाता है वहाँ ।
वहुत तारे थे, औंधेरा कब मिटा ,
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा ।

नीद के भी पेर है कंपने लगे ,
देख लो, लोचन-कुमुद भैंपने लगे ।
वैप - भूपा साज लपा आ गई ,
मुख-कमल-पर मुस्कराहट छा गई ।

पक्षियों की चहचहाहटः हो उठी ,
चेतना की अधिक आहट हो उठी ,
स्वप्न के जो रंग थे वे धुल उठे ,
प्राणियों के नेत्र कुछ कुछ खुल उठे ।

दीप-कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरी ,
रह गई अब एक धेरे में धिरी ।
किन्तु दिनकार आ रहा, क्या सोच है ?
उचित ही गुरुजन-निकट संकोच है ।
हिम-कणों ने है जिसे शीतल किया ,
और सौरभ ने जिसे नव बल दिया ,
प्रेम से पागल पवन चलने लगा ,
सुमन-रज सर्वांग में मलने लगा !

प्यार से अंचल पसार हरा - भरा ,
तारकाएँ खीच लाई है धरा ।-
निरख रत्न हरे गये निज कोप के ,
शून्य रंग दिखा रहा है रोप के ।
ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगी ,
अलसता की ग्लानियाँ धोने लगी ।
कौन भैरव-राग कहता है इसे .
श्रुति-पुटो से प्राण पीते है जिसे ?

दीखते थे रग जो धूमिल अभी ,
 हो गये हैं अब यथायथ वे सभी ।
 सूर्य के रथ में अस्त्रण हय जुत गये ,
 लोक के घर-नार ज्यी लिप-पुत गये ।
 सजग जग-जीवन उठा विश्रान्त हो ,
 मरण जिसको देख जड-सा भ्रान्त हो ।
 दधि विलोडन, शास्त्रमन्थन सब कही ,
 पुलक-पूरिक तृप्त तन-मन सब कही ।
 खुल गया प्राची दिशा का द्वार है ,
 गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है !
 पूर्व के ही भाग्य का यह भाग है ,
 या नियति का राग-पूर्ण सुहाग है !

‘ अस्त्रण-पट पहने हुए आह्लाद मे ,
 कौन यह वाला सड़ी प्रासाद मे ?
 प्रकट-मूर्तिमती उपा ही तो नहीं ?
 कान्ति की किरणें उजेला कर रही ।
 यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई ,
 आप विधि के हृथ से ढाली गई ।

कनक-सतिका भो कमल-सी कोमला ,
 धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला ।
 जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े—
 हीरवो मे गोल नीलम है जडे ।
 पच्चरागो से अधर मानो बने ,
 मोतियो से दाँत निर्मित हैं धने ।
 और इसका हृदय विससे है बना ?
 वह हृदय ही है कि जिससे है बना ।
 प्रेम-पूरित सरल कोमल चित्त से ,
 तुल्यता को जा सके किस वित्त मे ?
शारण पर सब अग मानो चढ चुके ,
 प्राण किर उनमे पढे जब गढ चुके ।
 भलकता आता अभी तारण्य है ,
 आ गुरुराई से मिला आरण्य है ।
 लोल कुण्डल मण्डलावृति गोल हैं ,
 धन पटल-से केश, कान्त-कपोल हैं ।
 देखती है जब जिधर यह सुन्दरी ,
 दमकती है दामनी-सी द्युति-भरी ।
 है करो मे भूरि भूरि भलाइयाँ ,
 लचक जाती अन्यथा न कलाइयाँ ?

चूडियो के अर्थ, जो है मणिमयी ,
 अग की ही कान्ति कुन्दन बन गई ।
 एक और विशाल दर्पण है लगा ,
 पाइर्व से प्रतिविम्ब जिसमे है जगा ।
 मन्दिरस्था कौन यह देवी भला ?
 किस कृती के अर्थ है इसकी कला ?
 स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला ,
 नाम है इसका उचित ही “ऊमिला” ।
 शील-शौरभू की तरगे आ रही ,
 दिव्य-भाव भवाविधि मे है ला रही ।

सौधसिंहद्वार पर अब भी वही ,
 बाँसुरी रस-रागिनी मे बज रहो ।
 अनुकरण करता उसीका कीर है
 पजरस्थित जो मुरम्य शरीर है ।
 ऊमिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की ,
 या वहाँ दो खजनो की सृष्टि की !
 मौन होकर बीर तब विस्मित हुआ ,
 रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ !

प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
 “रे सुभापी, बोल, चुप क्यो हो रहा ?”
 पाश्वं से सीमिति आ पहुँचे तभी ,
 और बोले—“लो, बता दूँ मैं यभी ।।
 नाक का मोती अधर की कान्ति से ,
 बीज दाढ़िम का समझकर भ्रान्ति से ,
 देखकर सहसा हुआ शुक मौन है ,
 सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ।”
 यो वचन कहकर सहास्य विनोद से ,
 मुग्ध हो सीमिति मन के मोद से ।
 पद्धिनी के पास मत्त मराल-से ,
 हो गये आकर खडे स्थिर चाल से ।
 चाह चिनित भित्तियाँ भी वे बड़ी ,
 देखती ही रह गई मानो खड़ी ।
 प्रीति से आवेग मानो आ मिला ,
 और हार्दिक हास आँखो मे गिला ।
 मुस्कराकर अमृत बरसाती हुई ,
 रसिकता मे सुरस सरसाती हुई ,
 ऊमिला बोली—“अजी, तुम जग गये ?
 स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?”-

“मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ ,
 जागरण रुचिकर तुम्हे जब से हुआ !”
 पत हुई सलाप मे वहु रात थी ,
 प्रथम उठने की परस्पर बात थी ।
 “जागरण है स्वप्न से अच्छा कही !”
 ‘प्रेम मे कुछ भी बुरा होता नही !”
 “प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए ,
 योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए ?”
 “धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता ,
 मोहिनी-सी मूर्ति, मजु-मनोज्ञता ।
 धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ ;
 किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ ।”
 “दास बनने का बहाना किसलिये ?
 क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?
 देव होकर तुम सदा मेरे रहो ,
 और देवी ही मुझे रखो, अहो !”
 ऊमिला यह कह तनिक चुप हो रही ,
 तब कहा सौमित्रि ने कि “यही सही ।
 { तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा ,
 मैं तुम्हारा हूँ प्रणय-सेवी सदा ।”

फिर कहा—“वरदान भी दोगी मुझे ?
 मानिनी, कुछ मान भी दोगी मुझे ?”
 ऊमिला थोली दूँकि “यह क्या धर्म है ?
 कामना को छोड़कर ही कर्म है !”
 “किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी ,
 है तुम्हारे पाद - पद्मों में पड़ी ।
 त्याग या स्वीकार कुछ भी हो भले ,
 वह तुम्हारी वस्तु आश्रित-वत्सले !”
 “शख्खधारी हो न तुम, विष के बुझे ,
 क्यों न काँटों में घसीटोगे मुझे !
 अवश अवला हूँ न मैं, कुछ भी करो ,
 किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो !”
 “साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये ,
 देखकर ही विष चढ़े जिनका अये !
 अमृत भी पल्लव-पुटो में है भरा ,
 विरस, मन को भी बना दे जो हंरा ।
 ‘अवश-अवला’ तुम ? सकल बल वीरता ,
 विश्व की गम्भीरता, ध्रुव-धीरता ,
 बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर ,
 मर रही है, जो रही है सृष्टि भर !

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त भी ,
 शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त्त भी ,
 प्रेयसी, किसके सहज - ससर्ग से ,
 दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग-से ?
 जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर ,
 चारु-चिन्तामणि-कला से होड़कर ,
 शल्पवल्ली-सी तुम्ही चलती हुई ,
 बाँटती हो दिव्य-फल फलती हुई ।”
 “खोजती है किन्तु आश्रय मात्र हम ,
 चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम ;
 प्रान्तरिक सुख-दुःख हम जिसमे धरें ,
 और निज भव-भार यो हलका करें ।
 तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला ?
 कह अरे, क्या चाहिए तुझको भला ?”
 “जनकपुर की राज-कुञ्ज-विहारिका ,
 एक सुकुमारी सलौनी सारिका !”
 रेख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे ,
 झर्मिला के नेत्र खजन - से फँसे ।
 ‘तोड़ना होगा धनुष उसके लिए ;’
 ‘तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये !

—^ॐ सुत्तनु, दूटे का भला क्या तोड़ना ?
 कीर का है काम दाढ़िम फोड़ना,—
 होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,
 जन्म मिथिला या अयोध्या में घरे !”
 ललित ग्रीवा-भंग दिखलाकर अहा !

ऊमिला ने लक्ष्य कर प्रिय को, कहा—
 “ओर भी तुमने किया कुछ है कभी,
 या कि सुनो ही पढ़ाये है अभी ?”
 “बस तुम्हे पाकर अभी सीखा यही !”
 बात यह सौमित्रि ने स्मित कही ।
 “देख लूँगी”—ऊमिला ने भी कहा;
 विविध विध फिर भी विनोदामृत वहा ।
 हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,
 किन्तु वे होते अधिक हृषित तभी ।
 प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,
 हार में जिसमे परस्पर जीत है !

“कल प्रिये, निज आर्य का अभियेक है,
 सब कही आनन्द का अतिरेक है ।

राम-राज्य विघ्नत होने जा रहा ,
 पूत पर पावन नया युग आ रहा ।
 अब नया वर-वेश होगा आर्य का ,
 और साधन क्षत्र-कुल के वार्य का ।
 ह्य सफल होगे हमारे शीघ्र ही ,
 सिद्ध होगे सुकृत सारे शोध्र ही ।”
 “ठीक है, पर कुछ मुझे देना कहो ,
 मेंत-मेत न हृषि-फल लेना कहो ,
 तो तुम्हे अभियेक दिखला दूँ अभी ,
 हृष्य उसका सामने ला दूँ सभी ।”
 { “चित्र वया तुमने बनाया है अहा ?”
 } हर्ष से सौमित्रि ने सायह कहा—
 { “तो तनिक लायो, दिखाओ, है कहाँ ?
 ‘कुछ’ नहीं मैं ‘बहुत कुछ’ दूँगा यहाँ ।” }
 उमिता ने सूर्ति बतकर प्रेम की ,
 खीचकर मणि-खचित मचिया हेम की ,
 आप प्रियतम को बिठा उसपर दिया ,
 और लाकर चित्रपट समुख किया ।
 { चित्र भी था चित्र और विचित्र भी ,
 रह गये चित्रस्थ-से सौमित्र भी ।

देख भाव-प्रवणता, वर-वरण्ता ,
 वाक्य सुनने को हुई उत्तरण्ता ।
 तूलिका सर्वश्र मानो थी तुली ,
वरण्ण-निविभीव्योम-पटपरथी तुली ।
 चित्र के मिष, नेत्र विहगों के सिए ,
 आप मोहन-जाल माया थी लिये ।
 मुझ न अपनो भो रहो साँमित्र को ,
 देर तक देखा किये वे चित्र को ।
 अन्त मे बोले बडे ही प्रेम से—
 “हे प्रिये, जीतो रहो सुम क्षेम से ।
 दुर्ग-मममुख, दृष्टि रोध न हो जहाँ ;
 है सभा-पण्डप बना विस्तृत जहाँ ।
 भालरो मे मजु मुछा है पुहे,
 माँग मे जित भाँति जाते हैं 'गुहे ।
 दीर्घ सम्मे है बने बैदूर्य के ,
 ध्वज-पटो मे चिह्न कुल-गुरु सूर्य वे ।
 भूमि के आनन्द से नभ भी भरा ,
 फूल वरसाता हृदय लेकर हरा ।
 तूर्य वादक वाल कूद उमग मे ,
 आ गया है नृत्य वे भी रग मे ।

वज रहो है द्वार पर जय-दुन्दभी ,
 और प्रहरी हैं खडे प्रमुदित सभी ।
 क्षीम के छत मे लटकते गुच्छ हैं ,
 सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं ।
 पद्म पुजो से पटासन है पडे ,
 और है वाधाम्बरो के पाँवडे ।
 बीच मे है रत्न-सिंहासन बना ,
 छत्र और वितान जिसपर है तना ।
 आर्य दम्पति राजते अभिराम है ,
 प्रकट तुलसी और शालग्राम हैं ।
 सब सभासद शिष्ठ है , नय-निष्ठ है ,
 छोडते अभिषेक - वारि वसिष्ठ हैं ।
 । आर्य यार्या है तनिक कैसे भुके ,
 । आज मानो लोक-भार उठा चुके ।
 वरसती है खचित मणियो की प्रभा ,
 तेज मे छूबी हुई है सब सभा ।
 सुर सभा-गृह विम्ब्य इसका ही बडा
 व्योम-स्पी काच मे है जा पडा ।
 पच-पुरजन सचिव सब प्रमुदित वडे ,
 माण्डलिक नरवीर कैसे हैं खडे ।

हाथ मे राजोपहार लिये हुए,
 देश-देश-विचित्र-वेश किये हुए।
 किन्तु मित्र नरेश सब कव आ सके ?
 भरत भी न यहाँ बुलाये जा सके ।
 यह तुम्हारो भावना की स्फूर्ति है,
 जो अपूर्ण कला उसीकी पूर्ति है।
 हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
 यदि वही हनने कहा तो वया कहा ?
 किन्तु होना चाहिए कव वया, वहाँ,
 व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
 मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
 स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
 वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
 चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये !
 मझरी-सी अँगुलियों मे यह कला,
 देखकर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला ?
 क्यों न अब मैं मत्त गज-सा भूम लूँ ?
 कर-कमल लायो तुम्हारा चूम लूँ !”
 कर बढ़ाकर, जो कमल-सा था खिला,
 मुस्कराई और बोली झगिला—

“मत गज बनकर विवेक न छोड़ना , |
कर कमल कहकर न मेरा तोड़ना !”

वचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गये ,

प्रेम - सागर में निभजित हो गये ।

पकड़कर सहसा प्रिया का कर वही ,

चूमकर किर फिर उसे बोले यही—

“एक भी उपमा तुम्हें भाती नहीं ,

ठीक भी है, वह तुम्हें पाती नहीं !

सचग अब इससे रहेंगा मैं सदा ,

अनुपमा, तुमको कहेंगा मैं सदा !

मिंहपमे, पर चित्र मेरा है कहाँ ?

“प्रिये, तुम्हारा कौन-न्सा पद है यहाँ ?

“भोवती, मैं भारत किस काम का ?

एक संनिक भाव लक्ष्मण राम का ।”

“किन्तु सौता की वहन है ऊमिला ,

वाह, उस्टा योग येह अच्छां मिला !

अस्तु, कुछ देना तुम्हे स्वीकार हो ,

तो तुम्हारो चित्र भी तैयार हो ।”

“ओर जो नहुओ?” गिरा प्रिय ने कही

—“तो पलटकर आप मैं दूंगी वही ।”

-होडकर यो ऊमिला उद्यत हुई ,
 और तत्काल वार्य मे वह रत हुई ।
 ज्योति-सी सौमित्रि के सम्मुग्द जगी ,
 चिनपट पर लेज्जनी चलने लगी ।
 अवयवों की गठन दिखलाकर नई ,
 अमल जल पर कमल-से फूले वर्ई ।
 साथ ही सावित्व-सुमन खिलने लगे ,
 लेखिका के हाय कुछ हिलने लगे ।
 भलक आया स्वेद भी मकरन्द-सा ,
 पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द-ना ।
 चिवुक-रचना मे उमग नही रकी ,
 रग फैला लेज्जनी आगे भुवी ।
 एक पीत तरग - रेखा - सी वही ,
 और वह श्रुभिपेक-घट पर जा रही ।
 हँस पडे सौमित्रि भावो से भरे ,
 ऊमिला का वाक्य या केवल “श्रे !”
 “रग घट मे ही गया, देखा, रहो ,
 तुम चिवुक घरने चली थी, क्यो नहो ?”
 ऊमिला भी कुछ लजाकर हँस पडी ,
 वह हँसी थी मोतियों की-सी लडी ।

“बन पड़ी है आज तो !” उसने कहा—
 “क्या करूँ, बस मे न मेरा मन रहा ।
 हारकर तुम क्या मुझे देते कहो ?
 मैं वही दूँ किन्तु कुछ का कुछ न हो ।”
 हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
 और बोले—“एक परिरक्षण प्रिये !”
 सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
 एक तीक्षण अपाग ही उसने दिया ।
 किन्तु धाते मे उसे प्रिय ने किया,
 आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया ।

बीत जाता एक युग पल-सा वहाँ,
 सुन पड़ा पर हर्ष कलकल-सा वहाँ ।
 द्वार पर होने लगी विरुद्धावली,
 गूँजने सहसा लगी गगनस्थली ।
 सूत, भागध, वन्दिजन यश पढ़ उठे,
 छुन्द और प्रवन्ध नूतन गढ़ उठे ।
 मुरज, बीणा, वेणु आदिक वज उठे,
 विज वैतालिक सुरावट सज उठे ।

दम्पती चौंके, पवन-मण्डल हिला ,
 चचला-सी छिटक छूटी ऊमिला ।
 तब कहा सौमित्रि ने—“तो अब चलूँ ,
 याद रखना किन्तु जो बदला न लूँ ?
 देखने कुल-वृद्धि-सी पाताल से ,
 आ गये कुलदेव भी द्रुत चाल से ।
 दिन निकल आया, विदा दो अब मुझे ;
 फिर मिले अवकाश देखूँ कब मुझे ?”
 ऊमिला कहने चली कुछ, पर रुकी ,
 और निज अचल पकड़कर वह भुकी ।
 भक्ति - सी प्रत्यक्ष भू - लग्ना हुई ,
 प्रिय कि प्रभु के प्रेम मे मग्ना हुई ।

दूसरा था भूमितल को अर्द्ध विधु-सा भाल ,
 बेढ़ रहे थे प्रेम के हृग - जाल बनकर बाल ।
 उत्र - सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ ,
 हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ ।

इसके आगे ? विदा विशेष ;
 हुए दम्पती फिर अनिमेष ।
 किन्तु जहाँ है मनोनियोग ,
 वहाँ कहाँ का विरह वियोग ?

दशो दिवपालो के गुण-केन्द्र ,
घन्य है दशरथ मही - महेन्द्र ।

त्रिवेणी - तुल्य रानियाँ तीन ,
वहातो सुख - प्रवाह नवीन ।

मोद का आज न ओर न छोर ,
आम्र वन-सा फूला सब ओर ।

किन्तु हा ! फला न सुमन-क्षेत्र ,
कीट वन गये गर्ये मन्थरा - नेत्र ।

देखकर कैकेयी यह हाल , .
आप उससे बोली तत्काल—

“अरी, तू क्यों उदास है आज ,
बत्स जब कल होगा युवराज ?”

मन्थरा बोली निस्सकोच—
“आपको भी तो है कुछ सोच ?”

हँसी रानी सुनकर वह बात ,
उठी अनुपम आभा अवदात ।

“सोच है मुझको निस्सन्देह ,
भरत जो है मामा के गेह ।

सफल करके निज निर्मल-दृष्टि ,
देख वह सका न यह सुख-सृष्टि !”

ठोककर अपना क्रूर - कपाल ,
 जताकर यही कि फूटा भाल ,
 किंकरी ने तब कहा तुरन्त—
 “हो गया भोलेपन का अन्त ।”
 न समझी कैकेयी वह बात ,
 कहा उसने—“यह क्या उत्पात ?
 । वचन क्यो कहती है तू वाम ?
 नही क्या मेरा वेटा राम ?”
 । “और वे ओरस भरत कुमार ?”
 कुदासी बोली कर फटकार ।
 कहा रानी ने पाकर खेद—
 । “भला दोनों मे है क्या भेद ?”
 “भेद ?”—दासी ने कहा सतर्क—
 “सबेरे दिखला देगा अर्क ।
 राजमाता होगी जब एक ,
 दूसरी देखेगी अभिषेक !”
 रोककर कैकेयी ने रोप ,
 कहा—“देती है किसको दोप ?
 राम की माँ क्या कल या आज ,
 बहेगा—मुझे न लोक - समाज ?”

वहा दासी ने धीरज त्याग—
 • “लगे इस मेरे मुहें में आग ।
 मुझे क्या, मैं होती हूँ कौन ?
 नहीं रहती हूँ फिर क्यों भौन ?
 देखकर किन्तु स्वामि-हित-धात,
 निकल ही जाती है कुछ बात ।
 इधर भोली है जैसी आप,
 समझनी सबको बैसी आप !
 नहीं तो यह सोधा पड़यन्त्र,
 रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र ?
 महारानी कोसल्या आज,
 सहज सज लेती क्या, सब साज ?”
 —कहा रानी ने—“क्या—पड़यन्त्र ?
 वचन हैं तेरे मायिक मन्न ।
 हुई जाती हूँ मैं उद्ध्रान्त,
 ‘खोलकर, कह तू’ सब वृत्तान्त ।”
 मन्थरा ने फिर ठोका भाल—
 “शेष है अब भी क्या कुछ-हाल ?
 ^ | सरलता भी ऐसी है, व्यर्थ,
 | समझ जो सके न अर्थान्त ।

भरत को करके घर से त्याज्य,
 राम को देते हैं शृंप राज्य।
 । । भरत से सुत पर भी सन्देह, ०८८/
 बुलाया तक न उन्ह जो गेह !”
 कहा केकेयी ने सक्रोध—
 ‘हूर हो हूर अभी निर्वोध !
 मामने से हट, ग्रविक न दोल,
 द्विजिह्वे, रस म विष मत घोल।
 उडाती है तू घर मे कीच,
 नीच ही होने हैं वस नीच।
 हमारे आपस के व्यवहार,
 कहां से समझे तू अनुदार ?”
 , हुआ भ्रकुचित भाल विजाल,
 कपोलो पर हिलते थे बाल।
 प्रकट थी मानो शासन नीति,
 मन्यरा सहमी देख सभीत।
 तीक्षण थे लोचन शटल अडोल,
 साल थे लाली भरे कपोल।
 न दासी देख सकी उस “ओरे,
 —जला दे कही न कोप कैठोर।

किन्तु वह हठी न अपने आप
 खड़ी ही रही नग्र चुपचाप !
 अन्त मे दोली स्वर-सा साध—
 “क्षमा हो मेरा यह अपराध ।
 स्वामि-सम्मुख सेवक या भूत्य,
 आप ही अपराधी हैं नित्य ।
 दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ,
 कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?
 समझ मे आया जो कुछ मर्म,
 उसे वहना था मेरा धर्म ।
 न था यह मेरा अपना वृत्य,
 भर्तृ है भर्तृ, भूत्य हैं भूत्य !”
 मही पर अपना माथा टेक,
 भरा था जिसमे अति अविवेक,
 किया दासी ने उसे प्रणाम,
 और वह चली गई अविराम ।

गई दासी, पर उसकी वात
 दे गई मानो कुछ आघात—

'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
 पवन भी मानो उसो प्रकार
 शून्य मे बरने लगा पुकार—
 'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
 बुलाया तक न उन्हे जो गेह !'
 गूँजते थे रानी के कान,
 तीर-सी लगती थी वह तान—
 'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
 मूर्नि-सी वनी हुई उस ठौर,
 खड़ी रह सकी न अब वह श्रौर।
 गई शयनालय मे तत्काल,
 गभीरा सरिता-सी थी चाल।
 न सहकर मानो तनु का भार,
 लेटकर करने लगी विचार।
 कहा तब उसने—“हे भगवान,
 आज क्या सुनते हैं ये कान ?
 मनोमन्दिर की मेरी शान्ति,
 पनी जाती है क्यो उत्कान्ति ?”

लगा दी किसने आकर आग ?
 कहाँ था तू सशय के नाम ?
 नाथ, कैकेयी के वर-वित्त ,
 चीरकर देखो उसका चित्त ।
 स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेण ,
 वसे हो एक तुम्हीं प्राणेण !
 सदा थे तुम भी परमोदार ,
 हुआ क्यों सहसा आज विकार ?
 भरत-से सुत पर भी सन्देह ,
 बुलाया तक न उसे जो गेह !
 न थी हम माँ-बेटे की चाह ,
 आह ! तो खुली न थी क्या राह !
 मुझे भी भाई के घर नाथ ,
 भेज क्यों दिया न सुत के साथ ?
 राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ ,
 राम मेरे गुण भी हैं सब श्रेष्ठ ।
 भला फिर भी क्या मेरा वत्स
 शान्त रस में; बनता बीभत्स ?
 तुम्हारा अनुज भरत है राम ,
 नहीं है क्या नितान्त निष्काम ?

जानते जितना तुम कुलधन्य ,
 भरत को कौन जानता अन्य ?
 भरत रे भरत, शील-समुदाय ,
 गर्भ मे आकर मेरे हाय !
 हुआ यदि तू भी सशय-पान ,
 दग्ध हो तो मेरा यह गान्त !
 चली जा पृथिवी, तू पाताल ,
 आपको सशय मे मत ढाल !
 कही तुझपर होता विश्वाम ,
 भरत मे पहले करता वास !
 अहे विश्वास, विश्व-विश्वात ,
 किया है किसने तेरा धात ?
 भरत ने ? वह है तेरी मूर्ति ,
 राम ने ? वह है प्राणस्फूर्ति !
 देव ने ? वे हैं सदय सदैव ,
 दैव ने ? हा धातक दुर्दैव !
 तुम्हे क्या है अदृष्ट, है इष्ट ?
 सूर्य - कुल का हो आज अनिष्ट ?
 वाँध सकता है कहाँ परन्तु—
 राघवो को अदृष्ट का तन्तु ?

भाग्य - वश रहते हैं वस दीन ,
 वीर रखते हैं उसे अधीन ।
 हाय ! तब तूने अरे अहृष्ट ,
 किया क्या जोजी को आकृष्ट ?
 जानकर अवला, अपना जाल—
 दिया है उस सरला पर डाल ?
 किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य ?
 सालता है जो बनकर शल्य ।
 भरत-से सुत पर भी सन्देह ,
 बुलावा तक न उसे जो गेह !
 बहन कौसल्ये, कह दो सत्य ,
 भरत था मेरा कभी अपत्य ?
 पुत्र था कभी तुम्हारा राम ?
 हाय रे ! किर भी यह परिणाम ?
 किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय ,
 सहौंगी कभी न यह अन्याय ।
 कर्छौंगी मैं इसका प्रतिकार ,
 पलट जावे चाहे ससार ।
 नहीं है कैकेयी निर्वोध ,
 पुत्र का भूले जो प्रतिशोध ।

कहे सब मुझको लोभासक्त,
किन्तु सुत, हूजो तू न विरक्त।"

भरत की माँ हो गई अधीर,
क्षोभ से जलने लगा शरीर।
दाह से भरा सौतिया डाह,
बहाता है बस विषप्रवाह।
मानिनी कैकेयी का कोप
वुद्धि का करने लगा विलोप।
और रह सकी न अब वह शान्त,
उठी आँधी-सी होकर आन्त।
एढियो तक आ छुटे केश,
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त,
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।
तोड़कर फेंके सब शृगार,
अश्रुमय-से ये मुक्ता-हार।
मत्त करिणी-सी दलकर फूल,
घूमने लगी आपको भूल।

चूर वर डाले सुन्दर चित्र ,
 हो गये वे भी आज अमिन ।
 वताते थे आ आवर श्वास—
 हृदय का ईर्प्पा वहि - विवास ।
 पतन का पाते हुए प्रहार
 पात्र करते थे हाहाकार—
 'दोप विसका है, विसपर रोप ,
 विन्तु यदि अब भी हो परितोप ॥'

इसी धरण कीसत्या अन्यथा ,
 सजाकर पट - भूपण एवन—
 वधु को युवराजी के योग्य ,
 दे रही थी उपदेश मनोज ।
 इधर कैकेयी उनका चित्र
 खीचती थी सम्मुख अपविन ।
 दोप - दर्शी होता है द्वेष ,
 गुणों को नहीं देखता त्वेष ।
 राजमाता होकर प्रत्यक्ष ,
 उसे करके वे मानो लक्ष ,

खड़ी हँसती है वारवार
 हँसी है वह या असि की धार?
 उठी तत्करण कैकेयी काँप,
 अधर-दशन करके कर चाप।
 भूमि पर पटक पटककर पैर,
 लगी प्रकटित करने निज वैर।
 अन्त मे सारे अग समेट
 गई वह वही भूमि पर लेट।
 छोड़ती थी जव तव हुङ्कार,
 चुटीली फणिनी - सी फुङ्कार।

इधर यो हुआ रग मे भग,
 ऊमिला इधर प्राणपति सग,
 भरत-विपयक ही वार्तालाप
 छेड़कर सुनती थी चुपचाप।
 बताते थे लक्ष्मण वह भेद,
 कि “इसका है हम सबको खेद।
 किन्तु अवसर था इतना अल्प,
 न आ सकते वे शुभ - सक्तप।

परे थी और न ऐसी लग्न ,
 पिता भी थे आतुरता - मग्न ।
 चलो, अविभिन्न आर्य की मूर्ति
 करेगी भरत - भाव की पूर्ति ।"

इस समय क्या करते थे राम ?
 हृदय के साथ हृदय - सग्राम ।
 उच्च हिमगिरि-से भी वे धीर
 सिन्धु-सम थे सम्प्रति गम्भीर ।
 उपस्थित वह अपार अधिकार
 दीख पड़ता था उनको भार । .
 पिता का निकट देख वन-वास
 हो रहे थे वे आप उदास ।
 हाय ! वह पितृ-वत्सलता-भोग ,
 और निज बाल्यभाव का योग ,
 विगत-सा समझ एक ही सग ,
 शिथिल-से ये उनके सब अग ।
 कहा वैदेही ने—“हे नाथ ,
 अभी तक चारो भाई साथ—

भोगते थे तुम सम-सुख-भोग ,
 व्यवस्था मेट रही वह योग ।
 भिन्न-सा करके कौशलराज-
 राज्य देते हैं तुमको आज ।
 तुम्हे रुचता है यह अधिकार ?
 “राज्य है प्रिये, भोग या भार ?
 बड़े के लिए बड़ा ही दण्ड !
 प्रजा की आती रहे अखण्ड ।
 तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य ,
 यहाँ राहित्य नहीं, साहित्य ।
 रहेगा साधु भरत का मन्त्र ,
 मनस्वी लक्ष्मण का बल तन्त्र ।
 तुम्हारे लघु देवर का धाम ,
 मात्र दायित्व-हेतु है राम ।
 “नाथ, यह राज-नियुक्ति पुनीत ,
 किन्तु लघु देवर की है जीत ।
 हुआ जिनके अधोन नृप-गेह ,
 सचिव-सेनापति-सह सस्नेह !

कोपना कैकेयी की बात—
 किसीको न थी अभी तक ज्ञात ।
 न जाने पृथ्वी पर प्रच्छन्न
 कहाँ क्या होता है प्रतिपन्न ।

भूप क्या करते थे इस काल ?
 लेखनी लिख उनका भी हाल ।
 भूप बैठे थे कुलगुरु-सम ,
 भरत का ही था छिडा प्रसम ।
 कहा कुलगुरु ने—“निस्सन्देह ,
 खेद है भरत नहीं जो गेह ।
 किन्तु यह अवसर था उपयुक्त
 वि नृप हो जावें चिन्ता-मुक्त ।”
 भूप बोले—“हाँ, मेरा चित्त ,
 विकल था आत्म-भविष्य-निमित्त ।
 इसीसे था मैं अधिक अधीर ,
 आज है तो कल नहीं शरीर ।
 मारकर थोखे मे मुनि-वाल
 हुआ था मुझको शाप कराल ।

कि 'तुमको भी निज पुत्र-वियोग
 बनेगा प्राण-विनाशक रोग ।'
 अस्तु यह भरत-विरह अक्षिलष्ट
 दुःखमय होकर भी था इष्ट ।
 इसी मिथ पा जाऊँ चिरान्ति
 सहज ही समझूँ तो निक्षान्ति ।"
 दिया नृप को वसिष्ठ ने धैर्य,
 कहा—“यह उचित नहीं अस्यर्य ।
 ईश के इगित के अनुमार
 हृआ करते हैं सब व्यापार ।”
 “ठीक है” इतना कहकर भूप
 शान्त हो गये सौम्य शुभस्य ।
 हो रहा था उस नमय दिनान्त,
 वायु भी था मानो कुछ शान्त ।
 गोत्र-गुरु और देव भी आद्य
 प्रणति युत पाकर अर्ध्यं सपाद्य,
 गये तब जाना था जिस ओर,
 चले नृप भी भीतर इस ओर ।

परहण मन्ध्या को आगे ठेल,
 खने को नूतन कुछ नूतन खेल,
 जे विधु की वेदो से भाल,
 तामिनी आ पहुँचो तत्काल ।।
 नामने कैकेयी का गेह
 शान्त देखा नृप ने सस्नेह ।
 मन्थरा किन्तु गई थी ताड़
 कि यह है ज्वालामुखी पहाड़ !
 धारे तब भीतर भूपाल,
 वहाँ जाकर देखा जो हाल,
 रह गये उससे वे जड़ - तुल्य,
 बड़ा भय - विस्मय का बाहुल्य ।
 न पाकर मानो आज शिकार
 सिहिनी सोती थी सविकार ।
 कोप क्या इसका यह एकान्त
 प्राण लेकर भी होगा शान्त ?
 कुशल है यदि ऐसा हो जाय,
 भूप-मुख से निकला वस “हाय !”
 दूटकर यह तारा इस रात
 न जाने, करे न क्या उत्पात !

श पड़ी थी विजलो - सी विकृराल ,
 | लपेटे थे धन - जैसे बाल ।
 } कौन छेड़े ये काले साँप ?
 अवनिपति उठे अचानक कॉप ।
 किन्तु क्या करते, धीरज, धार ,
 | वैठ पृथिवी पर पहली बार ,
 खिलाते - से वे व्याल विशाल ,
 चिनय पूर्वक बोले भूपाल—
 “प्रिये, किसलिए आज यह क्रोध ?
 नही होता कुछ मुझको बोध ।
 तुम्हारा धन है मान अवश्य ,
 चिन्तु हैं मैं तो यो ही वश्य ।
 जान पड़ता यह नही विनोद ,
 आज यद्यपि सबको है मोद ।
 सजे जाते है सुख के साज ,
 तुम्हे क्या दुख हुआ है आज ?
 यम्ल होकर भी मधुर रसाल ,
 गया निज प्रणय-कलह का काल ,
 आज होवर हम रागातीत ,
 हुए देमी से पितर पुनीत ।

भरत की अनुपस्थिति का खेद ,
किन्तु है इसमे ऐसा भेद ,
निहित है जिसमे मेरा क्षेम ,
प्रिये, प्रत्यय रखता है प्रेम ।

हुआ हो यदि कुछ रोग-विकार ,
बुलाऊं वैध, कर्वे उपचार ।

अमृत भी मुझको नहीं अलभ्य ,
कि मैं हूँ अमर-सभा का सभ्य ।

किया हो कहीं किसीने दोष
कि जिसके कारण है यह रोष ,
वता दो तो तुम - उसका नाम ,
देव है निश्चय उसपर वाम ।
सुनूँ मैं उसका नाम सुमिष्ट ,
कौन - मो वस्तु तुम्हे है इष्ट ?

जहाँ तक दिनकर-कर-प्रसार ,
वहाँ तक समझो निज अधिकार ।

किसीको करना हो कुछ दान ,
करो तो दुगना आज प्रदान ,
भरा रत्नाकर - सा भण्डार
रीत सकता है किसी प्रकार ?

माँगना हो तुमको जो आज
 माँग लो, करो न कोप न लाज ।
 तुम्हे पहले ही दो बरदान
 प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान ?
 याद है वह सबर-रण-रंग,
 विजय जब मिली ब्रणों के संग ?
 किया था किसने मेरा व्राण ?
 विकल क्यों करती हो अब प्राण ?”

हुआ सचमुच यह प्रिय संवाद,
 आ गई कैकेयी को याद ।
 बिना खोले फिर भी वह नेत्र,
 चलाने लगी वचन मय केन ।
 “चरो, रहने दो भूठी प्रीति,
 जानती हैं मैं यह नृप - नीति ।
 दिया तुमने मुझको क्या मान,
 वचन मय वही न दो बरदान ?”
 भूप ने कहा—“न मारो बोल,
 दिलाऊं कहो हृदय को सोल ?

तुम्हीने माँगा कव व्या आप ?
 प्रिये, किर भो व्यो यह अभिशाप ?
 भला, माँगो तो कुछ इस वार,
 कि व्या दूँ दान, नही, उपहार ?
 मानिगी बोली निज अनुरूप—
 “न दोगे वे दो वर भी भूप !”
 कहा नृप ने लेकर निश्वास—
 “दिलाऊ मैं कैसे विश्वास ?
 । परीक्षा कर देखो कमलाक्षि,
 सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि !
 । सत्य से ही स्थिर है ससार,
 सत्य ही सब धर्मो का सार,
 । राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
 । सत्य पर सकता है सब वार !”
 सरल नृप को छलकर इस भाँति,
 गरल उगले उरगो जिस भाँति,
 भरत-मुत-मणि की माँ मुदमान,
 माँगने चली उभय वरदान—
 । “नाथ, मुझको दो यह वर एक—
 । भरत का करो राज्य-अभिषेक !”

दूसरा, सुन लो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष गम-वन-वास ।”

वचन सुन ऐसे क्रूर बराल,
देखते हो रह गये नृपाल।
वज्र-ना पड़ा अचानक टूट,
गया उनका शरीर-सा छूट।
उन्हें यो हतज्जान-सा देख,
ठोकती-मी छाती पर मेख,
पुढ़ योलो वह भीहे तान—
“मौन हो गये, कहो हाँ या न !”,
भूप फिर भी न सके कुछ बोल,
मूर्ति से बैठे रहे अडोल।
दृष्टि ही अपनी करण बठोर,
उन्होंने डाली उसकी ओर।
वहा फिर उसने देख बनेश—
“मत्य-पालन है यही नरेश ?
उलट दो वस तुम अपनी वान,
महूं मैं करके अपना धात ।”

कहा तब तृप्ति ने किसी प्रवार—
 “मरो तुम क्यों, भोगो अधिकार ।
 मरेंगा तो मैं अगतिसमान,
 मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान ।”
 देख ऊपर को अपने आप
 लगे नृप करने यो परिताप—
 “दैव, यह सपना है कि प्रतीति ?
 यही है नर-नारो की प्रीति ?
 किसोवा न दें कभी वर देव,
 वचन देना छोड़ें नरदेव ।
 दान में दुरुपयोग का वास,
 किया जावे किसका विश्वास ?
 (जिसे चिन्तामणि-माला जान,
 हृदय पर दिया प्रधानस्थान,
 अन्त में लेकर यो विष-दन्त
 नागिनी निकली वह हा हन्त ।
 राज्य का ही न तुझे था लोभ,
 राम पर भी था इतना क्षोभ ?
 न था वह निस्पृह तेरा पुत्र ?
 भरत ही था क्या मेरा पुत्र ?”

राम-से सुत को भी बनवास , |
 सत्य है यह अथवा परिहास ? |
 सत्य है तो है सत्यानाना ,
 हास्य है तो है हृत्या-पाश ॥”
 प्रतिध्वनि-मिष्ठ ऊँचा प्रासाद
 निरन्तर करता था अनुनाद ।
 पुन बोले मुहें केर महीप—
 “राम, हा राम, वत्स, कुल-दोप ।”
 हो गये गदगद वे इस बार ,
 तिमिरमय जान पड़ा ससार ।
 गृहागत चन्द्रालोक-विधान
 जँचा निज भावी राव-परिधान ।
 सौध बन गया इमशान-समान ,
 मृत्यु सी पड़ी कँकेयो जान ।
 चिता के अगारे-से दीप ,
 जलाते थे प्रज्वलित समीप ।
 “हाय ! कल क्या होगा ?” वह काँप ;
 रहे वे घुटनो मे मुहें ढाँप ।
 आपसे ही अपने को आज
 छिपाते थे मानो नरराज ।

वचन पलटें कि भेजें राम को वन मे ,
 उभय विध मृत्यु निश्चित जानकर मन मे ,
 हुए जोवन - मरण के मध्य धृत - से वे ,
 रहे वस शर्द्ध जीवित , शर्द्ध मृत - से वे ।

इसी दशा मे रात कटी ,
 छाती - सी पौ प्रात फटी ।
 अरण भानु प्रतिभात हुआ ,
 विर्होक्ष - सा ज्ञात हुआ !

तृतीय सर्ग

जहाँ अभिषेक-ग्राम्युद धा रहे थे ,
मधूरो-मे सभी मुद पा रहे थे ,
वहाँ परिणाम मे पत्थर पडे थो ,
खडे ही रह गये सब थे खडे ज्यो ।
वरें कर क्या, इसे वस राम जानें ,
वही अपने अलीविन चाम जानें ।
वहाँ है बन्धने । तू देस प्रावर ,
स्वय ही सत्य हो यह भीत गावर ।

। विदा होकर प्रिया से बीर लक्ष्मण—
 हुए नत राम के आगे उसी क्षण ।
 हृदय से राम ने उनको लगाया,
 कहा—“प्रत्यक्ष यह साम्राज्य पाया ।”
 हुआ सीमिनि को सकोच सुनके,
 नयन नीचे हुए तत्काल उनके,
 न वे कुछ कह सके प्रतिवाद-भय से,
 समझते भाग्य थे अपना हृदय से ।
 कहा आनन्दपूर्वक राम ने तय—
 “चलो, पितृ-वन्दना करने चलें अब ।”
 हुए सीमिनि पीछे, राम आगे—
 चले तो भूमि के भी भाग्य जागे ।
 अयोध्या के अजिर को व्योम जानो,
 उदित उसमे हुए सुरवैद्य भानो ।
 । कमल-दल-से विद्युते भूमितल मे,
 गये दोनो विमाता के महल मे ।

पिता ने उस समय ही चेत पाकर,
 कहा—“हाराम, हासुत, हागुणाकर ।”

सुना करणा-भरा निज नाम ज्यो ही ,—
 चकित होकर बडे भट राम त्यो ही ।
 अनुज-युत हो उठे व्याकुल बडे वे ,
 हुए जाकर पिता-नम्मुस खडे वे ।
 | दशा नृप की विकट सकटमयो थो ,
नियति-सी पास बैठो केकयी थो ।
 अनैसर्गिक घटा-सी छा रही थी ,
 प्रलय-घटिका प्रकटता पा रही थी ।
 नृपति कुछ स्वप्नगत-से मौन रहकर—
 पुन चिल्हा उठे—“हा राम !” कहकर ।
 कहा तब राम ने—“हे तात ! क्या है ?
 खड़ा हूँ राम वह मैं, वात क्या है ?
 हुए क्यो मौन फिर तुम ? हाय ! बोलो ,
 उठो, आदेश दो, निज नेत्र खोलो ।”
 वचन सुनकर फिरा फिरवोध नृप का ,
 हुआ पर साय ही हृद्रोध नृप का ।
 पलक सूजे हुए निज नेत्र खोले ,
 रहे वे देखते ही, कुछ न बोले !
 पिता की देखकर ऐसी अवस्था ,
 भंवर मे पोत की जैसी अवस्था !

अवनि की ओर दोनों ने विलोका ,
 बड़े ही कष्ट से निज वेग रोका ।
 बढ़ाई राम ने फिर हृषि-रेखा ,
 विमाता केकयी की ओर देखा ।
 कहा भी—“देवि ! यह नया है, सुनूँ मैं ,
 कुमुम-सम तात के कण्टक चुनूँ मैं ।”
 “सुनो हे राम ! कण्टक आप हूँ मैं ,
 कहूँ नया और, वस, चुपचाप हूँ मैं ।”
 हुई चुप केकयी यह बात कहकर ,
 रहे चुप राम भी आधात सहकर !
 बहा सौमित्रिने—“माँ ! चुप हुई क्यो ?
 चुभाती चित्त मैं हो यो सुई क्यो ?
 न हो कण्टक पिता के हेतु, मानो ,
 हमे पितृ-भक्त भार्गव-नुल्य जानो ।”

इसी धरण भूप ने कुछ शक्ति पाई ,
 पिता ने पुन को हड़ भक्ति पाई ।
 बढ़ाकर वाहु तब वे छटपटाये ,
 उठे, पर पैर उनके लटपटाये !

चढ़ाकर मौन-रोदन-रत्न-माला ,
 पिता को राम-लक्ष्मण ने सेंभाला ।
 पिता ने भी किया अभियेक मानो ,
 न रक्षी सत्य की भी टेक मानो ।
 हृदय से भ्रूप ने उनको लगाया ,
 कहा—“विश्वाम ने मुझनो ठगाया !”
 निरम्भती केक्यी थी भौंह तानें ,
 चढ़ाकर कोप से दो दो कमान ।
 पकड़कर गम की ठोड़ी, ठहरके ,
 तथा उनका बदन उस ओर करके
 कहा गतधैर्य होकर भूपवर ने—
 “चली है, देस, तू क्या आज करने ।
 अभागिन । देस, कोई क्या कहेगा ?
 यही चौदह वरम वन मे रहेगा ।
 विभव पर हाय ! तू भव छोड़नी है ,
 भरत का गम वा जुग फोड़ती है ।
 भरत का भी न ऐसे राज्य होगा ,
 प्रजा-कोपाश्चि का वह आज्य होगा ।
 मर्स्या में तथा पछतायगी तू ,
 यही फल अन्त मे वस पायगी तू ।”

हुए आवेग से भूपाल गद्गद ,
 तरगित हो उठा फिर शोक का नद ।
 पुन बरने लगे वे राम-रटना ,
 समझ लो राम ने भी सर्व घटना ।
 विमाता वन गई आँधी भयावह ,
 हुआ चचल न तो भी द्याम धन वह !
 पिता को देख तापित भूमितल-सा ,
 वरसने यो लगा वर-वाक्य जल-सा—
 “अरे यह बात है, तो खेद क्या है ?
 भरत मे और मुझमे भेद क्या है ?
 करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन ,
 करूँगा मैं विपिन मे धर्म-पालन ।
 पिता ! इसके लिए ही ताप इतना !
 तथा माँ को अहो ! अभिशाप इतना !
 न होगी अन्य की तो राज-सत्ता ,
 हमारी ही प्रकट होगी महत्ता ।
 उभय विध सिद्ध होगा लोक-रजन ,
 यहाँ जन-भय वहाँ मुनि-विन्न-भजन ।
 मुझे था आप ही बाहर विचरना ;
 धरा का धर्म-भय था दूर करना ।

करो तुम धैये-रक्षा, वैश-रक्षा ,
 करूँगा क्या न मैं आदेश-रक्षा ?
 मुझे यह इष्ट है, चिन्तित न हो तुम ,
 पड़ूँ मैं आग मे भी जो कहो तुम !
 तुम्ही हो तात ! परमाराध्य मेरे ,
 हुए सब धर्म अब सुखसाध्य मेरे ।
 अभी सबसे विदा होकर बला मैं ,
 करूँ क्यों देर अुभ विधि मे भला मैं ?”
 हुए प्रभु मौन आज्ञा के लिए फिर ,
 विवश नृप भी हुए अत्यन्त अस्थिर ।
 “हुए क्यों पुत्र तुम हे राम ! मेरे ?
 यही है क्या पिता के काम मेरे !
 विधाता !—” बस न फिर कुछ कह मके वे ,
 हुए सूच्छत, न बाधा सह सके वे ।
 धसकने-सी लगी नीचे धरा भी !
 पसीजी पर न पापाणी जरा भी !

निरखते स्वप्न थे सौमित्र मानो !
 स्वर्य निस्पन्द थे, निज चिन मानो !

समझते थे कि मिथ्यालीक है यह ,
 यही बोले कि—“माँ ! क्या ठीक है यह ?”
 ‘कहा तब केकथी ने—“क्या कहूँ मैं ?
 कहूँ तो रेणुका बनकर रहूँ मैं ।
 खड़ी हूँ मैं, वनो तुम मातृधाती ,
 भरत होता यहाँ तो मैं बताती ।”
 गई लग शरण-सो, सौमित्रि भडके ,
 अधर फडके, प्रलय-घन-तुल्य तडके ।
 “अरे, मातृत्व तू अब भी जताती ;
 ठसक किसको भरत की है बताती ?
 भरत को मार डातूँ और तुझको ,
 नरक में भी न रखूँ ठौर तुझको !
 युधाजित आततायी को न छोड़ूँ ,
 वहन के साथ भाई को न छोड़ूँ ।
 चुला ले भव सहायक शीघ्र अपने ,
 कि जिनके देखतो हैं व्यर्थ सपने ।
 सभी सौमित्रि का बल आज देखें ,
 बुचकी चक का फल आज देखे ।
 भरत को सानती है आपमें क्यो ?
 प— सर्व— १ प— - - ?

हुए वे साधु तेरे पुत्र ऐसे—
 कि होता कीच से है कज जैसे ।
 भरत होकर यहाँ वया आज करते,
 स्वय हो लाज से वे झूव मरते !
 तुझे मुत-भक्षिणी साँपिन समझते,
 निशा को, मुहें छिपाते, दिन समझते !
 भला वे कौन हैं जो राज्य लेवे,
 पिता भी कौन हैं जो राज्य देवे ?
 प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
 मुकुट है जयेष्ठ ही पाता हमारा ।”
 वचन सुन केकयी कुछ भी न बोली,
 गरल को गाँठ होठो पर न घोली ।
 विवश थी, वाक्य उनके सह गई वह,
 अधर ही काटकर वस रह गई वह ।
 अनुज की ओर तब अवनीक करके,
 कहा प्रभु ने उन्हें यो रोक करके—
 “रहो, मीमित्रि ! तुम क्या कह रहे हो ?
 संभालो वेग, देखो, वह रहे हो !”
 “रहूँ ?”—मीमित्रि बोले—“चुप रहूँ मैं ?
 तुथा अन्याय चुप रहकर महूँ मैं ?”

असम्भव है कभी होगा न ऐसा ,
 वहो होगा कि है कुल-धर्म जैसा ।
 चलो, सिंहासनस्थित हो सभा में ,
 वही हो जो कि समुचित हो सभा में ।
 चले वे भी कि जो हो विन्नकारी ,
 कहो तो लौट दूँ यह भूमि सारी ?
 खड़ा है पाश्व में लक्ष्मण तुम्हारे ,
 मरे आकर अभी अरिगण तुम्हारे ।
 अमर गण भी नहीं अनिवार्य मुझको' ,
 सुनूँ मैं कौन दुष्कर कार्य मुझको !
 तुम्हें कुछ भी नहीं करना पड़ेगा ,
 स्वयं सौमित्रि ही आगे अड़ेगा ।
 मुझे आदेश देकर देख लीजे ,
 न मन में नाथ ! कुछ सकोच कीजे ।
 इधर मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा ,
 उधर हो जाय चाहे लोक सारा ।
 नहीं अधिकार अपना बीर खोते ,
 उचित आदेश ही है मान्य होते ।
 रसड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह ,
 अनार्या की जनी, हतभागिनी यह ;

अभो विपदन्त इसके तोड़ दूँगा ,
न रोको तुम, तभी मैं जान्त हूँगा ।

| वने इस दस्युजा के दास है जो ,
इसीसे दे रह वनवास हैं जो ,
पिता हैं वे हमारे या—वहूँ क्या ?
कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?" ।
कहा प्रभुने कि—“हाँ, वस चुप रहो तुम ,
अरन्तु द वाक्य कहते हो अहा ! तुम ।
जताते कोप किसपर हो, वहो तुम ?
मुझे जाता समझकर आज वन को ,
न यो कलुपित करो प्रेमान्व मन को ।
तुम्हीको तात यदि वन-वास देते ,
उन्ह तो क्या तुम्ही यो नास देते ?
पिता जिस धर्म पर यो मर रहे हैं ,
नहीं जो इष्ट वह भी कर रहे हैं ,
उन्ही कुल-केतु के हम पुन होकर—
करें राजत्व क्या वह धैर्य खोकर ?
प्रकृति मेरी स्वय तुम जानते हो ,
वृथा हठ हाय ! फिर क्यों ठानते हो ?

बड़ो को बात है अविचारणीया ,
 मुकुट-मणि तुल्य शिरमा धारणीया ।
 वचन रखे विना जो रह न सकते ,
 तदपि वात्सल्य-वश कुछ कहन सकते ,
 उन्ही पितृदेव का अपमान लक्ष्मण ?
 किया है आज क्या कुछ पान लक्ष्मण !
 उन्हण होना कठिन है तात कृष्ण से ,
 अधिक मुझको नही है राज्य तृण से ।
 मनःशासक बनो तुम, हठ न ठानो ,
 अखिल ससार अपना राज्य जानो ।
 समझ लो, दैव की इच्छा यही है ;
 करे जो कुछ कि वह रोता वही है ।
 मुझे गौरव मिला है आज, आओ ,
 विदा देकर प्रणय से जी जुड़ाओ ।”
 बढ़ी तापिच्छ-शाला-सी भुजाएँ—
 अनुज की ओर दाये आँर वायें ।
 जगत् समार मानो क्रोडगत था ,
 शमा-द्याया तले नत था, निरत था ।

मिटा सीमिनि का वह कोप सारा ,
 उमड आई अचानक अथु-धारा ।
 पदाव्जो पर पडे वे आप जर तक—
 किया प्रभु ने उन्हे भुजबद्ध तब तक ।
 मिले रवि चन्द्र-सम युग वन्धु ज्यो ही ,
 अमा का तम चतुर्दिक देख त्यो ही ,
 लगे वालक-महा नृप वृद्ध रोने ,
 विगत सर्वस्व-सा समझा उन्होने ।

कहा इस ओर अग्रज से अनुज ने ,
 पकड उनके चरण उस दीर्घभुज ने—
 “वही हो जो तुम्हे हो इष्ट मन मे ,
वने नूतन अयोध्या नाथ बन मे !
 भले ही दैव का बल दैव जाने
 पुरुष जो है न क्यो पुरुषार्थ माने ?
 हुधा, कुछ भी नही मैं जानता हूँ ,
 तुम्हे जो मान्य है सो मानता हूँ ।
 विदा की बात किससे और किसकी ?
 अपेक्षा कुछ नही है नाथ ! इसकी ।

मुझे यदि मारना है, मार डालो,
 निकालो तो न जीते जी निकालो ।
 प्रभो ! रक्खो सदा निज दास मुझको,
 कि शिवासन न हो गृह-वास मुझको ।
 अपोद्या है कि यह उसका चिता बनूँ?
 करूँगा क्या यहाँ मैं प्रेत-साधन ?”
 “अरे, यह क्या” — कहा प्रभुने कि “यह क्या ?
 समझते हो विदा को तुम विरह क्या ?
 तुम्हे क्या योग्य है उद्देश ऐसा ?
 सुनो, जो चित्त मे है, दूर कैसा ?
 पिता हैं और है भाता यहाँ पर,
 भरत शत्रुघ्न से भ्राता यहाँ पर,
 अनुज ! रहना उचित तुमको यही है,
 यहाँ जो है निदिव मे भो नही है ।
 मुझे बन मे न कुछ आयास होगा,
 सरत मुनि-वृन्द का सहवास होगा ।
 पिता की योर देखो, धर्म पालो,
 अरे, मूर्च्छत हुए किर वे, सेंमालो !”

किया उपचार दोनों ने पिता का ,
 उन्हें चैतन्य था चढ़ना चिता का ।
 खड़ी थी केकयी, पर चित्त चल था ;—
 "कहा जो राम ने सच था कि छल था ?"

सँभलकर कुछ किसी विध भूप बोले—
 विकल सौमित्रि से , इस भाँति बोले—
 "कहो फिर वत्स ! जो पहले कहा था ,
 वहो गजेन मुझे सुख दे रहा था ।
 नहीं हैं मैं पिता सचमुच तुम्हारा ,
 (यही है क्या पिता की प्रीति धारा ?)
 तदपि सत्पुन हो तुम शूर भेरे ,
 करो सब दुख लक्ष्मण दूर भेरे ।
 मुझे बन्दी बनाकर बीरता से ,
 करो अभिषेक-सामन धोरता से ।
 स्वयं निःस्यार्थ हो तुम, नोति रक्खो ,
 न होगा दोष कुछ, कुल-रोति रक्खो ।
 भरत या आप ही राज्याधिकारी
 हुआ पर राज्य से भी राम भा

उसीसे हा । न वचित यो भरत हो ,
 भले ही वाम वामा लोभरत हो ।
 | सुनो, हे राम । तुम भी धर्म धारो ,
 पिता को मृत्यु के मुहँ से उवारो ।
 न मानो आज तुम आदेश मेरा ,
 प्रबल उससे नहीं क्या क्लेश मेरा ?”

भरत की माँ डरी सुन भूप-वाणी ,
 कही वह राम-लक्ष्मण ने प्रमाणी ।
 | पतित क्या उन्नतों के भाव जाने ?
 उन्हें वे आप ही मे क्यों न सानें ।

कहा प्रभु ने—“पिता ! हा ! मोह इतना !
 विचागे किन्तु होगा द्रोह कितना ?
 तुम्हारा पुत्र मैं आज्ञा तुम्हारी—
 न मानूँ, तो कहे क्या सृष्टि सारी ?
 प्रकट होगा वपट ही हाय ! इससे ,
 न माँ के साथ होगा न्याय इससे ।
 मिट्टेगी वश-मर्यादा हमारी ,
 बनेगे हम अगोरच - मार्गचारी ।

कहाँ है हा ! तुम्हारा धैर्य वह सब ?
 कि कौशिक-सग भेजा था मुझे जब ।
 लड़कपन भूल लक्ष्मण कामदय हो ,
 हमारा वंश नूतन कीर्तिमय हो ,
 क्षमा तुम भी करो सौमित्र को माँ !
 न रक्षो चित्त में उस चित्र को माँ !
 विरत तुम भी न हो अब और भाई !
 अरे, फिर तात ने संज्ञा गँवाई !
 रहूँगा मैं यहाँ अब और जब तक—
 बढ़ेगा मोहू इनका और तब तक ।
 कहूँ प्रस्थान इनसे शीघ्र ही अब ,
 इन्हें दें सान्त्वना मिलकर स्वजन सब ।”
 प्रणति-मिस निज मुकुट-सर्वस्व देकर ,
 चले प्रभु तात को पद-धूलि लेकर ।
 चले उनके अनुज भी अनुसरण कर ,
 सभीको छोड़, सेवा को वरण कर !

कहा प्रभु ने कि—“भाई ! बात मानो ,
 पिता को और देवो, हठ न ठानो !”

कहा सौमित्रि ने कर जोडकर तब—
 ‘‘रहा यह दास तुमको छोडकर कब ?
 रहे क्या आज जाता देख बन को ?
 करो दोपी न इतना नाथ ! जन को ।
 तुम्ही माता पिता हो और भ्राता ,
 तुम्ही सर्वस्व मेरे हो विधाता ।
 रहैंगा मैं, कहोगे तो रहैंगा ,
 नरक की यातना को भी सहैंगा ।
 विनश्वर जोव होता तो न सहता ,
 तदपि क्या रह सकेगा देह दहता ?
 कला, क्रीडा, कुतुक, मृगयाँ भिन्न मे ,
 सभा-सलाप, निर्णय और नय मे ,
 जिसे है साथ रखा नाथ ! तुमने ,
 उसीसे आज खीचा हाथ तुमने !
 यहाँ मेरे बिना क्या रुक रहेगा ?
 न अपना भार भी यह तन सहेगा ।
 तुम्ही हो एक अन्तर्बह्य मेरे ,
 नहीं क्या फूल-फल भी ग्राह्य मेरे !
 न रख्लो आज ही यदि साथ मुझको ,
 चले जाओ हटाकर नाथ ! मझको ।

न रोकूँगा, रहूँगा जो जियूँगा ,
 अमृत जब है पिया, विष भी पियूँगा ।”
 हुए गदगद यही रघुनन्दनानुज ,
 शिशिर-कण-पूर्ण मानो प्रातरम्बुज ,
 खड़े थे सूर्य-कुल के सूर्य समुख ,
 न जानें देव समझे दुख या सुख ?
 अनुज को देख समुख दीन रोते ,
 दयामय क्या द्रवित अव भी न होते ?
 “अहो ! कातर न हो, सीमिति ! आओ ,
 मदा निज राम का अद्विति पाओ ।
 यही है आज का-सा यह सबेरा ,
 मिटा राजत्व बन में भी न मेरा !
 अनुज ! मुझसे न तुम न्यारे कभी हो ,
 सुहृत्, सहचर, सचिव, सेवक सभी हो ।”
 वचे सीमिति मानो प्राण पाकर ,
 वचो त्यो केकथी भी व्राण पाकर ।

निकलकर अम्बजानुज तव वहाँ से ,
 चले, पर शब्द यह कैसा, कहाँ से ।
 “मुझे इस मृत्यु-मुख मे छोड़कर यो ,
 चले हा पुन । तुम मुहँ मोड़कर, क्यो ?”
 कहा प्रभु ने कि—“भाई ! क्या करहूँ मैं ?
 पिता का शोक यह कैसे हरहूँ मैं ?
 हुआ है धैर्य सहसा नष्ट उनका ,
 चलो, कातर न कर दे कष्ट उनका ।”
 बढ़ाकर चाल अपनी और थोड़ी ,
 उन्होने एक लम्बी साँस छोड़ी ।
 न थी अपने लिए वह साँस निकली ,
 फँसातो जो यहाँ यह काँस निकली ।
 चले दोनो अलौकिक शान्तिपूर्वक—
 कि आये थे यथा विश्रान्तिपूर्वक !
 अजित्सर के बने युग हस थे वे ,
 स्वयं रवि-वश के अवतास थे वे ।
 झुकाकर सिरप्रथम फिरटकलगाकर ,
 निरखते पाख्व से थे भूत्य ग्राकर ।
 यही होकर अभी यद्यपि गये थे ,
 तदपि वे दीखते सघको नये थे !

लगे माँ के महल को घूमने जब—
 “जियो, कल्याण हो” यह सुन पड़ा नव ।
 सुमन्नागम समझकर रक गये वे ,
 “अहा ! काका,” विनय से झुक गये वे ।
 सचिववर ने कहा—“भैया ! कहाँ थे ?”
 बताया राम ने उनको, जहाँ थे ।
 कहा फिर—“तात आतुर हो रहे हैं ,
 मिलो तुम शीघ्र, धीरज खो रहे हैं ।”
 हुई मुनावर सचिववर को विकलता ,
 रहा “क्यो ?” भी निकलता ही निकलता ।
 अमगल पूछना भी कष्टमय है ,
 न जानें क्या न हो, अस्पष्ट भय है ।
 न थोगनि किन्तु बोले वे—“हुआ क्या ?
 हमे भी अब विकारो ने द्वुआ क्या ?
 मुझे भी हो ग्हाथा सोच मन मे ,
 अभी तक आज नृप क्यो है शयन मे ।
 बुलाऊं वैद्य या मैं देख आऊं ,
 सभागत सम्यनण को क्या बताऊं ?
 कुशल हो, विन्न होते गूटनर यो ,
 इधर तुम जा रहे हो लौटकर क्यो ?”

कहा' सीमिति ने—“हे तात सुनिए ,
 उचित-अनुचित हृदय मे आप गुनिए ।
 कि मझलो माँ हमे वन भेजती हैं ,
 भरत के अर्थ राज्य सहेजती है ।”
 निरखकर सामने ज्यो साँप भारी ,
 सहम जावे अचानक मार्गचारी ।
 सचिववर रह गये त्यो भ्रान्त होकर ,
 रुका नि श्वास भी क्या श्रान्त होकर !
 संभलकर अन्त मे इस भाँति बोले—
 कि “आये खेत पर ही दैव, ओले !
 कहाँ से यह कुमति की वायु आई ,
 किनारे नाव जिससे डगमगाई ।
 भरत दशरथ पिता के पुत्र होकर—
 न लेंगे, केर देंगे राज्य रोकर ।
 | विना समझे भरत का भाव सारा ,
 | विपिन का व्यर्थ है प्रस्ताव सारा ।
 | न जाने दैव को स्वीकार क्या है ?
 | रहो, देखूँ कि यह व्याप्ति क्या है ?
 | न रोकूँगा तुम्हे मैं धर्म-भय से ,
 | तदपि इति तक समझ लूँ मर्म-अथ से ।”

उत्तर की अनपेक्षा करके आँसू रोक सुमन्त्र ,
 चले भूप की ओर वेग से, धूमा अन्तर्यन्त्र ।
 “अरे !” मान कहकर ही उनको रहे देखते राम ,
 और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक ललाम ।

चले फिर रघुवर माँ से मिलने ,
 बढ़ाया घनन्सा प्राणानिल ने ।
 / चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे—
 भाद्र के पीछे आश्विन जैसे ।

चतुर्थ सर्ग

वरणा - वजागण्य - नवे ।
गुण - रत्नाकर, आदि-नवे ।
विता-वित । वृपा वर दो,
गाव - गणि मुमगे भर दो ।
चटार भजु - भनोरय मे,
आरर नम्य राज - पथ मे,
दग्नेन वर्ण तपोवन वा,
यही उष्ट है इस जन वा ।

सुख से सद्यः स्नान किये ,
 पीताम्बर परिधान किये ,
 पवित्रता में पगी हुई ,
 देवाचर्चन में लंगी हुई ,
 मूर्तिमयी ममता - माया ,
 कौसल्या कोमलकाया ,
 थी अतिशय आनन्दयुता ,
 पास खड़ो थी जनकसुता ।
 गोट जड़ाऊ धूंधट की—
 विजली जलदोपम पट की,—
 परिधि बनी थी विधु-मुख की , ।
 सीमा थी सुपमा-सुख की । ।
 माव-सुरभि का संदेन अहा !
 अमल कमल-सा बदन अहा !
 अधर छवीले छदन अहा !
 कुन्द - कली - से रदन अहा !
 साँप खिलाती थी अलके ,
 मधुप पालतो थी पलकें ;
 और कपोलों की भलकें ,
 उठती थी छवि की छलके !

गोल गोल गोरी वाहे—

| दो आँखो की दो राहे ।

भाग सुहाग पक्ष मे थे ,

अचलवद्ध कक्ष मे थे ।

| थी कमला - सी कल्याणी ,

| वाणी मे वीणापाणी ।

'माँ ! क्यालाऊँ ?' कह कहवर—

पूछ रही थी रह रहकर ।

सास चाहती थी जब जो,—

देती थी उनको सब सो ।

कभी आरती, धूप कभी ,

सजती थी उपकरण सभी ।

देख देख उनकी ममता ,

करती थी उसकी समता ।

आज अतुल उत्साह - भरे ,

थे दोनो के हृदय हरे ।

| दोनो शोभित थी ऐसी—

मेना और उमा जैसी ।

मानो वह भू-लोक न था ,

वहाँ दुख वा शोक न था ।

प्राणप्रद था पवन वहाँ ,
 ऐसा पुण्यस्थान कहाँ ?
 अमृत-तीर्थ का तट-सा था ,
 अन्तर्जंगत् प्रकट - सा था !

इसी समय प्रभु अनुज-सहित—
 पहुँचे वहाँ विकार-रहित ।
 जब तक जाय प्रणाम किया ,
 माँ ने आशीर्वाद दिया ।
 हँस सीता कुछ सकुचाइँ ,
 आँखें तिरछी हो आईँ ।
 लज्जा ने धूंधट काढ़ा—
 मुख का रंग किया गाढ़ा ।
 “बहू ! तनिक अक्षत-रोली ,
 तिलक लगा दूँ” माँ बोली—
 “जियो, जियो, वेटा ! आओ ,
 पूजा का प्रसाद पाओ ।”

लद्मण ने सोचा मन में—
 “जाने देगी ये वन मे ?

प्रभु इनको भी छोड़ेगे ,
 तो किस धन वो जोड़ेगे ?
 मझली माँ ! तू मगी न क्यो ,
 लोक लाज से डरी न क्यो ?”
 लक्ष्मण ने निश्वास लिया ,
 माँ के जान सु-वास लिया ।

३५

बोले तव श्रीराघव यो—
 धर्मधीर नवधन-रव ज्यो—
 । “माँ ! मैं आज कृतार्थ हुआ ,
स्वार्थ स्वय परमार्थ हुआ ।
 पावनकारक जीवन का ,
 मुझको वास मिला वन का ।
 जाता हूँ मैं अभी वहाँ ,
 राज्य करेगे भरत यहाँ ।”
 माँ को प्रत्यय भी न हुआ ,
 इसोलिए भय भी न हुआ ।
 समझी सीता किन्तु सभी ,
 भूठ कहेगे प्रभु न कभी ।

खिची हृदय पर भय-रेखा ,
 पर माँ ने न उवर देखा ।
 बोली वे हँसकर—“रह तू ,
 यह न हँसी मे भी वह तू ।
 तेरा स्वत्व भरत लेगा ?
 वन मे तुझे भेज देगा ?
 वही भरत जो आता है ,
 क्या तू मुझे डराता है ?”
 लक्ष्मण ! यह दादा तेरा,—
 धैर्य देखता है मेरा ।
 ऐ ! लक्ष्मण तो रोता है !
 ईश्वर यह क्या होता है !”

उनका हृदय सशक हुआ ,
 उदित अशुभ आतक हुआ ।
 “सच है तब क्या वे वातें ?
 देव ! देव ! ऐसो घातें !”
 ,काँप उठी वे मृदुदेहो ,
 घरती धूमी या वे ही ।

बैठी फिर गिरकर मानो ,
 जकड़ गई घिरकर मानो ,
 आँखें भरी, भुवन रीता ,
 उलट गया सब मनचोता !
 सीता से थामो जाकर—
 रहो देखती टक लाकर ।

प्रभु बोले—“माँ ! भय न करो ,
 एक अवधि तक धैर्य धरो ।
 मैं फिर घर आजाऊँगा ,
 वन में भी सुख पाऊँगा ।”
 “हा ! तब क्या निष्कासन है ?
 यह कैसा वन-शासन है ?
 तू सबका जीवन-धन है ,
 किसका यह निर्दयपन है ?
 क्या तुझसे कुछ दोप हुआ ?
 जो तुझपर यह रोप हुआ ।
 अभी प्रायिनी मैं हूँगी ,
 प्रभु से क्षमा माँग लूँगी ।

क्या प्रयमापराध तेरा,
 और विनीत विनय मेरा,
 क्षमा दिलावेगा न तुझे?
 वत्स ! हुआ क्या, बता मुझे।
 अथवा तू चुप ही रह जा,
 वेदा लक्ष्मण ! तू बह जा।
 कठिन हृदय प्रस्तुत हो है,
 दरन, दण्ड तो श्रुत ही है।"
 "माँ ! यह कोई बात नहीं,
 दोपो भेरे तात नहीं।
 दोप - दूरकारक हैं ये,
 सब सद्गुण-धारक हैं ये।
 छू सकता क्व पाप इन्हें?
 प्रात् पुण्य है आप इन्हे।
 प्राप्य राज्य भी छोड़ दिया,
 विमने ऐसा त्याग बिया?
 किन्तु पिता-परण रखने को,
 सबको छोड़ बिलखने को,
 कर मैंभली माँ के मन का,
 पथ लेते हैं ये बन का।"

“समझ गई, मैं समझ गई,
 कैकेयी की नोति नई।
 मुझे राज्य का खेद नहीं,
 राम-भरत मे भेद नहीं।
 मँझली वहन राज्य लेवें,
 उसे भरत को दे देवें।
 पुत्रस्नेह धन्य उनका,
 हठ है हृदय-जन्य उनका।
 मुझे राज्य की चाह नहीं,
 उसपर कुछ भी ढाह नहीं।
 मेरा राम न बन जावे,
 यही कही रहने पावे।
 उनके पैर पढ़ूँगी मैं,
 कहवर यही अड़ूँगी मैं—
 भरत-राज्य की जड़ न हिले,
 मुझे राम की भीख मिले !”

“नहीं, नहीं, यह कभी नहीं;
 देन्य विषय वस रहे यही !”

रुके राम-जननी जब तक ,
 गूंजो नई गिरा तब तक ,
 चकित हृषियाँ व्याप्त हुईं ,
 वहाँ सुमिना प्राप्त हुईं ,
 वधू ऊमिला अनुपद थी ,
 देख गिरा भी गदगद थी ।
 देख सुमिना को आया ,
 प्रभु ने सानुज सिर नाया ।
 बोलो वे कि—“जियो दोनो ,
 यज्ञ का अमृत पियो दोनो ।”
 सिंही-सहस्र क्षनियाणी ,
 गरजी फिर कह यह वाणी—
 “स्वत्वो को भिक्षा कैमी ?
 दूर रहे इच्छा ऐसी ।
 उर मे अपना रक्त बहे ,
 आर्य-भाव उद्दीप रहे ।
 पाकर वशोचित शिक्षा—
 माँगेंगी हम क्यो भिक्षा ?
 प्राप्य याचना-वर्जित है ,
 आप भुजो से अर्जित है । ॥

हम पर-भाग नहीं लेंगी ,
 अपना त्याग नहीं देगी ।
 और न अपना देते हैं ,
 न वे और का लेते हैं ।
 वीरों की जननी हम हैं ,
 भिजा-मृत्यु हमे सम हैं ।
 राघव ! शान्त रहोगे तुम ?
 क्या अन्याय सहोगे तुम ?
 मैं न सहैंगी, लक्ष्मण ! तू ?
 नीरव क्यों है इस काण तू ?”
 “माँ क्या करूँ ? कहो मुझसे ,
 क्या है कि जो न हो मुझसे ,
 अग्नीकार आर्य करते ,
 तो कवके द्रोही मरते !
 आज्ञा करें आर्य अब भी ,
 विगड़ा बने कार्य अब भी ।”
 लक्ष्मण ने प्रभु को देखा ,
 न थी उधर कोई रेखा !
 बोले वे कि—“रहो भ्रातः !
 और सुनो तुम हे मातः !”

यदि न आज बन जाऊँ मैं ,
किसपर हाथ उठाऊँ मैं ?—
पूज्य पिता या माता पर ?
या कि भरत-से भ्राता पर ?
और किसलिए ? राज्य मिले ?
है जो तृण-सा त्याज्य, मिले ?
मूँ की सृहा, पिता का प्रण ,
नष्ट करूँ, करके सद्वण ?
प्राप्त परम गौरव जोड़ूँ ?
धर्म वेचकर धन जोड़ूँ ?
अम्ब ! क्या करूँ, तुम्ही कहो ?
सहसा अधिक अधीर न हो ।
त्याग प्राप्त का ही होता ,
मैं अधिकार नहीं खोता ।
अबल तुम्हारा राम नहीं ,
विधि भी उसपर वाम नहीं ।
वृथा क्षोभ का काम नहीं ,
धर्म बढ़ा . धन-धाम नहीं ।
विसने क्या अन्याय किया ,
— ?

माँ ने पुत्र - वृद्धि चाही ,
 नृप ने सत्य - सिद्धि चाही ।
 ममली माँ पर कोण कहूँ ?
 पुत्र - धर्म का लोप कहूँ ?
 तो किसे ढर माना है ?
 तुमपर भी कर सकना है !
 भैया भरत अयोध्य नहीं ,
 राज्य ग़म का भोग्य नहीं ।
 किसी वह अपना ही है ,
 यो तो सब सपना ही है ।
 मुझसे महा महत्व मिला ,
 स्वयं त्याग का तत्व मिला ,
 माँ ! तुम तर्निक कृपा कर दो ,
 बना रहे वह, यह वर दो !"
 मौन हुए रघुबुल - भूपण ,
 मानो प्रभा - पूर्ण पूपण ।
 कहाँ गई वह थोभ-घटा ?
 छाई एक अपूर्व छटा !
 सबका हृदय - द्राव हुआ ,
 रोम रोम से स्नाव हुआ !

मोती जैसे बडे बडे,—
टप टप आँसू टपक पडे ।

सीता ने सोचा मन मे—
'स्वर्ग बनेगा अब बन मे,
धर्मचारिणी हूँगी मैं,
बन-विहारिणी हूँगी मैं।'
तनिक बनोखी अंखियो से,
अजब अनोखी अंखियो से,
प्रभु ने उधर दृष्टि डाली,
दीख पड़ो हृष्ट हृदयाली ।
सग-गमन-हित, सीता के,
प्रस्तुत परम पुनीता के,
उच्चव्रत पर अडे हुए,
रोम रोम थे खडे हुए ।

उठी न लक्ष्मण की आँखे,
जकड़ी रही पलक - पाँखें ।
किन्तु कल्पना घटी नहीं,
उदित ऊमिला हटी नहीं ।

खड़ी हुई हृदयस्थल में—
 पूछ रही थी पल पल में—
 'मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?
 हाय ! और क्या आज कहूँ ?'
 आः ! कितना सकरुण मुख था ,
 आर्द्ध - सरोज - अरुण मुख था ।
 लक्ष्मण ने सोचा कि—“अहो ,
 कैसे कहूँ चलो कि रहो !
 यदि तुम भी प्रस्तुत होगी—
 तो सकोच—सोच दोगी ।
 प्रभुवर बाधा पावेगे ,
 छोड़ मुझे भी जावेगे !
 नहीं, नहीं, यह बात न हो ,
 रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो ।
 यह भी मेरे लिए सहो ,
 और अधिक क्या कहूँ, कहो ?”
 | लक्ष्मण हुए विद्योगजयी ,
 | और ऊमिला प्रेमसंयी ?
 वह भी सब कुछ जान गई ,
 विवश भाव से मान गई ।

श्रीसीता के कन्धे पर—
 आँसू वरस पडे भर भर।
 पहन तरल-तर हीरे-से,
 कहा उन्होंने धीरे से—
 “वहन ! धैर्य का अवसर है ,”
 वह बोली—“अब ईश्वर है ।”
 सीता बोली कि—“हाँ, वहन ,
 सभी कही, गृह हो कि गहन ।”

कौसल्या क्या करती थी ?
 कुछ कुछ धीरज धरती थी ।
 प्रभु की वाणी कट न सकी ,
 युक्ति एक भी अट न सकी !
 प्रथम सुमित्रा भ्रान्त हुई ,
 फिर क्रम क्रम से शान्त हुई ।
 खड़ी रही, न हिली ढोली ,
 तब कौसल्या ही बोली—
 “जाओ, तब बेटा ! वन ही ,
 पाओ नित्य धर्म-धन ही ।

जो गौरव लेकर जाओ ,
 लेकर वही लौट आओ ।
 पूज्य-पिता-प्रण रक्षित हो ,
 माँ का लक्ष्य सुरक्षित हो ।
 घर मे घर की शान्ति रहे ,
 कुल में कुल की कान्ति रहे ।
 होते मेरे सुकृत कही ,
 तो क्यो आती विपद यही !
 फिर भी हो तो त्राण करे ,
 देव सदा कल्याण करें ।
 और कहू क्या मैं तुमसे—
 वन में भी विकसो द्रुम-से ।
 फिर भी है इतना कहना—
 मुनियों के समीप रहना !
 जिसे गोद में पाला है ,
 जो उर का उजियाला है ,
 वहन सुमित्रे ! चला वही ,—
 जहाँ हिन्द-पशु-पूर्ण मही !
 यह गौरव का अर्जन है ,
 या सर्वस्व - विसर्जन है ?

त्याग मात्र इसका धन है ,
 पर मेरा मौ का मन है ।
 हा ! मैं कैसे धैर्य धरूँ ?
 क्या चिन्ता से दग्ध भरूँ ?
 यदि मैं मर भी जाऊँगी ,
 तो भी शान्ति न पाऊँगी !”
 कहा सुमित्रा ने तब यों—
 “जीजी ! विकल न हो अब यो !

| आशा हमे जिलावेगी ,
 | अवधि अवद्य मिलावेगी ।”
 राघव से बोली फिर वे—
 थी उस समय अनस्थिर वे ।
 “वत्स राम ! ऐसा ही हो ,
 कल इसका कैसा ही हो ।
 लेकर उच्च हृदय इतना ,
 नहीं हिमालय भी जितना ,
 तुमने मानव - जन्म लिया ,
 धरणी-तल को धन्य किया !
 | मैं भी ‘कहलो हूँ—जाओ ,
 | लक्ष्मण को भी अपनाओ ।

धैर्य सहित सब कुछ सहना ,
 दोनों सिंह-सदृश रहना ।
 | लक्ष्मण ! तू बड़भागी है ,
 जो अग्रज-अनुरागी है ।
 | मन ये हों, तन तू बन में ,
 धन ये हों, जन तू बन में ।”
 लक्ष्मण का तन पुलक उठा ,
 मन मानो कुछ कुलक उठा ।
 माँ का भी आदेश मिला ,
 पर वह किसका हृदय हिला ?

कहा उमिला ने—“हे मन !
 तू प्रिय-पथ का विम्बन बन ।
 आज स्वार्य है त्याग-भरा !
 हो अनुराग विराग भरा !
 तू विकार से पूर्ण न हो ,
 शोक-भार से चूर्ण न हो ।
 भ्रातृ - स्नेह - सुधा बरसे ,
 मूर पर स्वर्ग भाव सरसे !”

प्रस्तुत हैं प्राणसनेही ,
 चुप थी अब भी बैदेही ।
 कहती क्या वे प्रिय जाया ,
 जहाँ प्रवान वही द्याया ।

इसी समय दुख से द्याये ,
 । सचिव सुमन्त्र वहाँ आये ।
 वे परिवार-भुक्त-से थे ,
 अति अविभिन्न युक्त-से थे ।
 । प्रभु जो उनकी ओर बढ़े ,
 प्रयम अथु फिर वचन बढ़े—
 “राम ! क्या कहूँ मैं अब हा !
 बनकर भी विगड़ा सब हा ।
 देख तुम्हारा निष्कासन ,
 कैकेयी-मुत का शासन ,
 नहीं चाहती कभी प्रजा ,
 उठी क्रान्ति की वही ध्वजा ?
 विदित तुम्हे है नृप-गति भी ,
 कैकेयी वो दुर्मति भी ।

ऐसी विषमावस्था है ,
 फिर भी वन-व्यवस्था है ?
 पितृ-स्पृहा क्या ज्ञेय नहीं ?
 प्रजा-भाव क्या ध्येय नहीं ?”
 प्रभु बोले—“यह बात नहीं ,
 तात ! तुम्हे क्या ज्ञात नहीं ?
 स्पृहा बड़ी या धर्म बड़ा ?
 किसमे है शुभ कर्म बड़ा ?
 और प्रजा मे द्रोह कहाँ ?
 है वस मेरा मोह वहाँ ।
 मैंने क्या कर दिया किसे ;
 कर न सकेंगे भरत जिसे ?
 उनके निन्दा वाक्य मुझे ,
 होंगे विष के वाण बुझे ।
 उनकी निन्दा मेरी है ,
 प्रजा प्रीति की प्रेरी है ।
 पर वे मेरे भ्राता हैं ,
 मंझली माँ ‘भो माता हैं ।”
 अब सुमन्त्र कुछ कहन सके ,
 पर नीरव भो रह न सके !

रहे रहे वे मुहें योने,
 किर धीरे धीरे धोले—
 “नहीं जानता मैं गोड़े,
 या आनन्द-मणि होड़े,
 राम ! तुम्हारा मगल हो,
 प्राप्त हमें आत्मिक बल हो,
 तुम भूतल से भिन्न नहीं,
 हम सबमें विच्छिन्न नहीं।
 उर से मिन्नु अलौकिक हो,
 निज पतम-नुल के पिक हो !
 अन्त करण अपार्यि है,
 उदित वहाँ दिव ही दिव है !
 अमरवृन्द नोचे आवें,
 मानव-चरित देस जावें।
 दन मे ही यदि रहना है,
 तो नृप या यह वहना है—
 ‘तुम गुमन्त्र रथ से आओ,
 पुत्रों को पहुँचा आओ।’
 भरत यहाँ आवें जब लो,
 वहाँ रहा यदि मैं तब लो—

तो मैं उन्हे राज्य दूँगा,
वन मे स्वय प्राप्त हूँगा । ”

सबने अधर्वश्वास लिया,
या उरको श्राश्वास दिया ।
प्रभु बोले—“तो देर न हो,
रथ जुतने के लिए कहो ।
अब बल्कल पहनूँ वस मैं,
बनूँ बनोचित तपस मैं ।
यही रजोगुण-लेश रहे,
वन मे सात्त्विक वेश रहे ।”

रोते हुए सुमन गये,
आये बल्कल वस्त्र नये ।
(वढे प्रथम कर कोमल दो,
या मृणालयुत शतदल दो ।
सीता चुप, सब रोती थी,
द्वा-जल से मुहँ धोती थी ।
“वहूँ ! वहूँ !” माँ चिलाई,
आँखें दूनी भर प्राई—

“हाय हटा, ये बलल हैं,
 मृदुतम तेरे वरतल हैं।
 यदि ये छू भी जावेगे—
 तो छाँसे पड़ आवेंगे।
 बोमल-बधू। विदेह ललो।
 मुझे छाड़वर वहाँ चली?
 | वन की काँटो भगी गलो,
 तू है मानस कुमुम-बलो।
 दंव। हुआ तू वाम इसे?
 रोमा, रोमो राम। इसे।
 वया यह वन मे रह लेगो?
 तप-नर्पा हिम सह लेगो?
 सौ कष्टो की वथा रहे,
 वन की सारी व्यथा रहे,
 जन आँधी-सो आवेगी—
 यह सहसा उड़ जावेगी।”

आ पड़ता जन सोच कही—
 रहता तब सोच नही।

प्रभु ने जो निदेश पाया ,
 प्राणसमी को समझाया ।
 वन के सारे कष्ट कहे ,
 जो जो भय थे स्पष्ट कहे ।
 जिनको सुनकर मुहं सूखे ,
 देह दुख पाकर दूखे—
 “आतप, वर्षा, हिम सहना ,
 वाघ - भालुओ मे रहना ,
 अबलाओ का काम नही ,
 वन मे जन का नाम नही ।
 खान - पान सब कुछ खोना ,
 निशि मे भी दुर्लभ सोना ।
 मही नही, वनचर होना ,
 रोने से भी मुहं धोना !”

किन्तु वृथा, सीता बोली ,
 डर से नेक नही ढोली—
 “नाय !, न कुछ होगा इससे ,
 क्या, कहते हो तुम किससे ?

समझो मुझसे भिन्न न हा !
 वरो ऐक्य उच्चिन्न न हा !
 तुमको दुष्ट तो मुझको भी ,
 तुमको सुष्ट तो मुझसे भी ।
 सुख मे आ आवार धेवं ,
 सकट मे अब मुहं केवं ।
 देखेगा तो बैत उसे ?
 मरना होगा मौत उसे ।
 जा गोरख नेकर स्वामी ।
 होते हो काननगमी ,
 उनमे अद्वं भाग मेरा ,
 करो न आज त्याग मेरा ।
 मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी ,
 मुझ अद्वागी निना अभी—
 हैं अद्वाग अधूरे ही ,
 सिद्ध करो तो पूरे हा ।
 सद्वके हित मैं बन मैं भी ,
 निर्जन, सधन गहन मैं भी ।
 सब व्रत - नियम निवाहूँगी ,
 सद्वका मगल चाहूँगी ।

सास ससुर की स्नेहलता—
 वहन ऊमिला महाव्रता,
 सिद्ध करेगी वही यहाँ,
 जो मैं भी कर सकी कहाँ?
 वन में क्या भय ही भय है?
 मुझको तो जय ही जय है।
 | यदि अपना आत्मिक-बल है,
 | जगल में भी मगल है।
 | कण्टक जहाँ कुसुम भी है,
 | छाया वाले द्रुम भी है।
 | निर्भंर है, दूर्वा-दल है,
 | मीठे कन्द, मूल, फल है।
 | रहते हैं मिष्ठान पड़े,
 | लगते हैं फल मधुर बड़े।
 | वधुएं लघन से डरती—
 | तो उपवास नहीं करती।
 | मुक्त गगन है, मुक्त पवन,
 | वन है प्रभु का खुला भवन।
 | सलिल-मूरण सरिताएँ हैं,
 | करुण-भाव-भरिताएँ हैं।

उटज लताओं से छाया ,
 विटपों की ममता-माया ।
 खग-मृग भी हिल जावेगे ,
 सभी मेल मिल जावेगे ।
 देवर एक धनुष्ठारी—
 होंगे सब सुविधाकारी ।
 वे दिन-रात साथ देंगे ,
 मेरी रक्षा कर लेंगे ।
 मदकल कोकिल गावेंगे ,
 मेघ मृदंग बजावेंगे ।
 नाचेंगे मयूर मानी ,
 मैं हूँगी वन की रानी !
 हिस जीव हैं धोर जहाँ ,
 कृष्ण-मुनि भी क्या नहीं वहाँ ?
 यहाँ नहीं जो शान्ति वही ,
 भव-विकार या भ्रान्ति नहीं ।
 अचल होगा फूल-भरा ,
 कल-जल होगा कूल-भरा ।
 मन होगा दुख-भूल-भरा ,
 वन होगा सुख-मूल - भरा ।

अबवा तुच्छ भो न हो वही ,
 सुम तो हो जा नही यही ।
 मेरी यही महामति है—
 पति हो पत्नी को गति है ।
 नाथ ! न भय दो तुम हमारी ,
 जीत नुसो है हम यम पा ।
 सतिया को पति-भग यही—
 अगम गहन वया दहन नही ।”

सीता और न बाल रामी ,
 गदगद धण्ठ न खोल नपी ।
 इधर झमिला मुग्ध निरी—
 वहवर 'हाय !' घडाम गिरी ।

लद्मण ने हग मूँद लिये ,
 सबने दो दा बूँद दिये ।
 यहा मुमिना ने—'बेटी ।
 आज मही पर तू लेटी ।’
 “वहन ! वहन !” वहवर भीता ,
 करने लगी व्यजन सोता ।

“आज भार्य जो है मेरा,
 वह भी हुआ न हा । तेरा ॥”
 माताएँ यी मूर्ति बनी ;
 व्यग्र हुए प्रभु धर्म - धनी ।
 युग भी कम थे उस क्षण से ,
 बोले वे यो लक्ष्मण से—
 “अनुज, मार्ग मेरा लेकर ,
 सग अनावश्यक देकर ,
 सौचो अब भी तुम इतना—
 भग कर रहे हो कितना ?
 हठ करके प्यारे भाई ,
 करो न मुझको अन्यायी ॥”
 “हाय ! आर्य, रहिए, रहिए ,
 मत कहिए, यह मत कहिए ।
 हम सकट को देख डरें ,
 या उसका उपहास करें ?
 पाप-रहित सन्ताप जहाँ ,
 आत्म-शुद्धि ही आप वहाँ ॥”
 “लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही ,
 मैं बन मे भी रहा गृही ।

वनवासी, हे निर्मोही ,
 हुए वस्तुत तुम दो ही ।”
 कहा सुमित्रा ने तब यो—
 “निश्चय पर वितकं अब क्यो ?
 जैसे रह, रहेगी हम ,
 रोकर सही, सहेगी हम ।”

उस मूर्च्छिता वधू का सिर ,
 गोदी मे रखे अस्थिर ,
 कौसल्या माता भोली ,
 धाढ मारकर यो भोली—
 “देव - वृन्द ! देखो नीचे ,
 मत मारो आँखें मीचे ।
 जाओ, वत्स ! कहा मैंने ,
 जो आ पडा सहा मैंने ।

जो जो सकी—ओर जीने की चेष्टा विया बर्देगी ,
 चौदह वर्ष बीतने पर तो मानो फिर न मर्देगी ।
 देख उस समय तुम तीनों को छङ बैर्य घर्लंगी ,
 मानो तोन लोक वे घन से अपना भाग्य भर्देगी ।

पक्ष सिद्ध हो ,
 लक्ष्मि-विद्ध हो ,
 राम ! नाम हो तेरा ,
 धर्म-वृद्धि हो ,
 मर्म-शृद्धि हो ,
 सब तेरे, तू मेरा ।”

प्रस्थान,—वन की ओर ,
 या लोक-मन की ओर ?
 होकर न धन की ओर ,
 हैं राम जन की ओर ।

पंचम सर्ग

वनदेवोगण, आज कौन - सा पर्व है,
जिसपर इनना हृष्ण और यह गर्व है ?
जाना, जाना, आज राम वन आ रहे,
इसोलिए सुख - साज सजाये जा रहे ।

तपस्त्वियों के योग्य वस्तुओं से सजा,
फहराये निज भानु - मूर्तिवाली ध्वजा ।
मुम्य राजरथ देह समागत सामने,
गुरु को पुनः प्रणाम किया श्रीराम ने ।

प्रभु - मस्तक से गये जहाँ गुरु-पद हुए,
 चोटी तक वे हृष्टरोम गद्गद हुए।
 बोल उठे,—“हम आज सु-गोरव-युत हुए,
 मुत, तुम बल्कल गहन, शिष्य से मुत हुए।”
 प्रभु बोले—“वस, यही राम को इष्ट है,
 क्योंकि पिता के लिए प्रतीत अरिष्ट है।
 त्रिकालज्ञ है आप, आपकी बात से,
 हुए भविष्यच्छित्र मुझे भी ज्ञात-से।
 जो हो, व्याकुल आज प्रजा - परिवार है,
 उन सदका अब सभी आप पर भार है।
 माँ मुझको फिर देख सकें जैसे सही,
 पितः, पुत्र की प्रथम याचना है यही।”
 माव देख उन एक महा द्रतनिष्ठ के,
 भर आये युग नेत्र वरिष्ठ वसिष्ठ के।
 कहा उन्होंने—“वत्स, चाहता हूँ अभी—
 किन्तु नही, कल्याण इसीमें है सभी।
 देवकार्य हो और उदित आदर्श हो,
 उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ स्पर्श हो।
 मुनि-रक्षक-सम करो विष्णु में वास तुम,
 मेटो तप के विन्द्र! और सब वास तुम।

हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम ,
 करो आर्य-सम वन्यचरो को सभ्य तुम ।”
 “जो आज्ञा’ कह रामचन्द्र आगे बढ़े ,
 उदयाचल पर सूर्य-तुल्य रथ पर चढ़े ।
 रुदित जनो को छोड बैठ उसमे भले ,
 सीता, लक्ष्मण-सहित राम वन को चले ।
 प्रजा वर्ग के नेत्र-नीर से पथ सिंचा ,
 रुक्ता रुक्ता महा भीड मे रथ सिंचा ।
 सूर्योद्धासित कनक-कलश पर केतु था ,
 वह उत्तर को फहर रहा किस हेतु या ?
 कहता-सा था दिखा दिखाकर कर-कला ,
 यह जगम - साकेत - देव - मन्दिर चला ।

सुन कैकेयी - कर्म, जिसे लज्जा हुई ,
 पाकर मानो ताप गलित मज्जा हुई ।
 बैदेही को देख वधू - गण बच गया ,
 कोलाहल युग भावपूर्ण तब मच गया ।
 उभय ओर थी खड़ी नगर-नर-नारियाँ ,
 वरसाती थी साथू सुमन सुकुमारियाँ ।

करके जय जयकार राम का, धर्म का ,
 करती थी अपवाद केक्यी-कर्म का ।
 “जहाँ हमारे राम, वही हम जायेंगे ,
 वन में ही नव-नगर-निवास बनायेंगे ।
 ईटों पर अब करे भरत शासन यहाँ !”
 जन-समूह ने किया भहा कलकल वहाँ ।

“हरकर प्रभु का राज्य कठोरा केक्यी ,
 प्रजा-श्रोति भी, हरण करे अब यह नई !”
 भाभी को यह भाव जताने के लिए ,
 लक्ष्मण ने निज नेत्र उधर प्रेरित किये ।
 वैदेही में पुलक भाव था भर रहा ,
 प्रियगुणानुभव रोम रोम या कर रहा ।
 केक्यी का स्वार्थ, राम का त्याग था ,
 परम खेद था और चरम अनुराग था ।
 राम-भाव अभिषेक - समय जैसा रहा ,
 वन जाते भी सहज सोम्य वैसा रहा ।
 वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही ,
 मर्दिंदा को सदा साक्षिणी है मही ।

पर मेरा यह विशेष विलोककर,
 करो न अनुचित कर्म धर्म-पथ रोककर।
 होते मेरे ठीर तुम्हीं हे आग्रही,
 तो क्या तुम भी आज नहीं करते यही ?
 पालन सहज, सुयोग कठिन है धर्म का,
 हुआ अचानक लाभ मुझे सत्कर्मका।
 मैं बन जाता नहीं रुठकर गेह से,
 अयवा भय, दौर्बल्य तथा निस्नेह से।
 तुम्हीं कहो, क्या तात-वचन भूठे पड़े ?
 असद्वस्तु के लिए परस्पर हम लड़े।
 मान लो कि यह राज्य अभी मैं छीन लूँ,
 नाटों मे से सहज कुसुम-सा बीन लूँ,
 पर जो निज नृप और पिता का भी न हो,
 हो सकता है कभी प्रजा का वह कहो ?
 ऐसे जन को पिता राज्य देते कही,—
 जिसको उसके योग्य मानता मैं नहीं,
 तो अधिकारी नहीं, प्रजा के भाव से,
 महसूत होता स्वयं न उस प्रस्ताव से।
 इन्हुं भरत के भाव मुझे सब ज्ञात हैं,
 हममे वे जडभरत-न्तुल्य विख्यात हैं।

भूलोगे तुम मुझे उन्हे पाकर, सुनो ,
 मुझे चुना तो जिसे कहूँ अब मैं, चुनो !
 | जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रती~
 प्रिय उससे भी अधिक न निकलें वे व्रती~
 तो तुम मुझको दूर न पाओगे कभी ,
 देता हूँ मैं वचन, माँ। दे दो अभी ।
 महाराज स्वर्गीय सगर ने राज्य कर ,
 तजा तुम्हारे लिए पुन भी त्याज्य कर ।
 भरत तुम्हारे योग्य न हो नाता कही ,
 तो समझेगा राम उन्हे आता नहीं ।
 तुम हो ऐसे प्रजावृन्द, भूलो न हे ,
 जिनके राजा देव-कार्य साधक रहे ।
 गये छोड सुख-धाम देत्य-सग्राम मे ,
 धैर्य धरो तुम, वही वीर्य है राम मे ।
 बन्धु, विदा दो उसी भाव से तुम हमे ,
 वन के बाटे बनें कीर्ण कुकुम हमे ।
 कर्ण पाप-सहार, पुण्य-विस्तार मैं ,
 भर्ण भद्रता, हर्ण विन्न-भय-नार मैं ।
 या जाने दो आर्य भगोरथ-रीति से ;
 कहूँ शुक्ल-ऋण-मुक्त पिता को प्रीति से ।

सौ विन्नो के बीच व्रतोद्यापन करूँ ,
गगा-सम कुछ नव्य निधि-स्थापन करूँ ।
उठो, विन्न मत बनो धर्म के मार्ग मे ,
चलो स्वय कल्याण-कर्म के मार्ग मे ।
दो मुझको उत्साह, बढ़ू, विचर्ण, तरूँ ,
पद पद पर म चरण-चिह्न अकित करूँ ।"

क्षिति खिलाने देख हठीले बाल के ,
रख दे माँ ज्यो उन्हे संभाल संभाल के ।
विभु वारणी से वही, पडे थे जो अडे ,
मन्त्रमुरधन्से हुए अलग उठवर खडे ।
भुज देखे जो किन्तु उठाकर सिर उन्हे ,
पा सकते थे कहाँ पौरजन फिर उन्हे ।
झोकेसा भट्ट स्वच्छ मार्ग से रथ उडा ,
बढ़ मानो कुछदूर शून्य पथ भी मुडा ।
चले यथा रथ-चक्र अचल भावित हुए ,
युग पाइर्वों के अचल हश्य धावित हुए ।
सीमा पूरी हुई जहाँ साकेत की ,
पर, प्रान्तर, उद्यान, सरित, सर, खेत की ,

रके सधे हय, हीस उठे रज चूमकर,
 उत्तर पुरी की ओर फिरे प्रभु धूमकर।
 जन्मभूमि का भाव न शब भीतर रुका,
 आद्रं भाव से कहा उन्होने, सिर भुका—
 “जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
 हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
 तेरे कीर्ति-स्तम्भ, सीध, मन्दिर यथा—
 रहे हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा।
 जाते हैं हम, किन्तु समय पर आयेंगे;
 आकर्षक तब तुझे और भी पायेंगे।
 उड़े पद्धिकुल दूर दूर आकाश मे,
 तदपि चग-सा वेंधा कुल-गृह-पाश मे!
 हममे तेरे व्याप्त विमल जो तत्व है,
 दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ सत्व हैं;
 उन सबका उपयोग हमारे हाथ है,—
 सूक्ष्म रूप मे सभी कही तू साथ है!
 तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास मे,
 मानस मे जल और अनल उच्छ्रवास मे।
 अनासक्ति मे सतत नभस्थिति हो रही,
 अविचलता मे वसी आप तू है मही।

गिर गिर, उठ उठ, खेल-कूद, हँस बोलकर ;
 तेरे ही उत्सग-अजिर मे डोलकर—
 इस पथ मे है सहज हुआ चलना हमे ,
 छलन सकी वह लोभ-मोह छलना हमे ।
 हम सौरों की प्राचि, पुराधिष्ठात्रि तू ,
 मनुष्यत्व - मनुजात - धर्म की धात्रि तू !
 तेरे जाये मदा याद आते रहे ,
 नव नव गीर्व पुण्यपर्व पाते रहे ।
 तू भावो की चारु चित्रशाला बनी ,
 चारिन्यो की गीत-नाट्यमाला बनी ।
 तू है पाठावली आयंकुल-कर्म की ,
 पत्र पत्र पर छाप लगी ध्रुव धर्म की ।
 चलना, फिरना और विचरना हो कही ,
 विन्तु हमारा प्रेम-पालना है यही ।
 हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नर-लोक मे ,
 शिशु ही है तुझ मातृभूमि के थोक मैं ।
 यही हमारे नाभि-कज की नाल है ,
 विवि-विधान की सृष्टि यही सुविद्याल है ।
 हम अपने तुझ दुर्घ-धाम के विष्णु हैं ,
 हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं ।

तेरा पानी शख हमारे हैं घरे,
जिसमे अरि आकण्ठमग्न होकर तरे।
तब भी तेरा शान्ति भरा सद्भाव है,
सब क्षेत्रों मे हरा हृदय का हाव है।
मेरा प्रिय हिण्डोल निकुञ्जागार तू,
जीवन-सागर, भाव-रत्न-भाण्डार तू।
मैं हूँ तेरा सुमन, चढूँ-सरसूँ कही,
मैं हूँ तेरा जलद, बढूँ-वरसूँ कही।
शुचिरुचि शिल्पादर्श शरदघन-पुञ्ज तू,
कलाकलित, अति ललित कल्पना-कुञ्ज तू।
स्वर्गोपरि साकेत, राम का धाम तू,
रक्षित रख निज उचित श्रयोध्या नाम तू।
राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कही,
आऊँ अथवा लौट यहाँ आऊँ नही,
रामचन्द्र भवभूमि श्रयोध्या की सदा,
और श्रयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा।”

आया भोका एक वायु का सामने,
पाया सिर पर सुमन समर्पित राम ने।

पृथ्वी का गुण सरस गन्ध मन भा गया ,
 खगकुल का कल विकल कहण रव छा छाया ।
 क्षण भर तीनो रहे मूर्ति जैसे गढे ,
 लेकर फिर निश्चास दीर्घ रथ पर चढे ।
 वैठ चले चुपचाप सभी निस्पन्द-से ,
 बढे अश्व भी निरानन्द गति मन्द से ।
 पहुँचे तमसा - तीर साँझ को सयमी ,
 वही विताई गई प्रथम पथ को तमी ।
 स्वजन-शोच-सकोच तनिक वाधक हुआ ,
 विन्तु भरत-विश्वास शयन-माधक हुआ ।
 सजग रहे सौमित्रि, वने प्रहरी वहो ;
 निद्रा भी ऊमिला-सदृश धर ही रही !
 प्रभु-नर्ची मे मझ सुमन्त्र समेत थे ,
 दीत गई कव रात, सचेताचेत थे ।

पर दिन पथ मे निरख स्वराज्य-समृद्धियाँ ,
 प्रजावर्ग की धर्म - धात्य - धन - वृद्धियाँ ,
 गोरसधारा - सदृश गोमती पारकर ,
 पहुँचे गगा - तोर धीर धृति धारकर ।

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी ,
 स्वर्ग-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर गड़ी !
 सह न सकी भव-ताप, अचानक गल गई ,
 हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी ।

{ 'प्रभु आये हैं,' समाचार सुनकर नपा ,
 भेट लिये गुहराज सपरिकर आगपा ।
 देख सखा को दिया समादर राम ने ,
 उठकर, बढ़कर, लिया प्रेम से सामने ।
 "रहिए, रहिए, उचित नहीं उत्थान यह ,
 देते हैं श्रीमान् किसे वहु मान यह !
 मैं अनुगत हूँ, भूल पडे कहिए कहाँ ?
 अपना मृगयावास समझ रहिए यहाँ ।
 कुनल भूल इस मधुर हास पर भूल सब ,
 वारूँ मैं निज नीलविपिन के फूल सब ।
 सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब, किसे ,
 क्यों न कहूँ मैं अहोभास्य अपना इसे ?
 पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता ,
 भूल रही है आज मुझे निज हीनता ।

मैं ग्रभाव मे भाव लेखता हूँ तुम्हे ,
 निज गृह मे गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हे ,
 चुटियों पर पुपद - धूलि डालिए आइए ,
 घर न देखकर, मुझे निहार निभाइए ।

न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्षि है ,
 - चाहे मुझमे शक्ति न हो, पर भक्ति है ।
 अथवा मृगयाशील कभो फिर भी यहाँ—
 पड़ सकते हैं चाह चरण ये, पर कहाँ—
 आ सकती हैं, वार वार माँ जानकी ?
 कुलदेवी - सी मिली मुझे हाँ, जानकी ।
 भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे ,
 मिथिलापुर के राजभोग है याद वे ।
 पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही !
 एक ग्रास मे तृप्त न कर दूँ तो सही !
 रुखा - सूखा खान - पान भी इष्ट है ,
 भाता किसको सदा मिष्ट ही मिष्ट है !
 तुम सदैव सीभाग्यवती, जीती रहो ,
 उभय कुलों की प्रीति-सुधा पीती रहो ।”
 सिर गुह ने हँस उन्हे हँसाकर नत किया ,
 प्रभु ने तत्करण उसे अक मे भर लिया ।

चाँका वह इस बार, देखकर राम को—
 शैवलपरिवृत यथा सरोश्ह श्याम को !
 “ऐ, ये बल्कल ! हृषि कहाँ मेरी रही ?
 कौतुक, अब तक देख न पाई वह यही !
 कहिए, ये किसलिए आज पहने गये ?
 कहाँ राजपरिधान और गहने गये ?
 क्या मुनि बनकर हरिण भुलाये जायेंगे ?
 पर वे चंचल, सहज समीप न आयेंगे ।
 किसी वेश में रहें स्प ही घन्य यह,
 जय आभरणावरण - मुक्त नावण्य यह !”
 “वचनो से ही तृप्त हो गये हम सखे,
 करो हमारे लिए न अब कुछ श्रम सखे !
 इन का ब्रत हम आज तोड़ सकते कही .
 तो माझी की भेट छोड़ सकते नही ।
 अपस्थियो के विन्न दूर कर प्रेम से,
 मुछ दिन हम बनवास करेंगे क्षेम से ।
 देखेंगे पुर - कार्य भरत पुण्यसृही ,
 देता है कृतकृत्य सहज बहुजने गृही ।”
 ‘ऐसा है तो साथ चलेगा दास यह,
 देगा सचमुच बड़ा विनोदी बास वह ।

बन मे वे वे चमत्कार हैं सृष्टि के ,
पलक खुले ही रहे देखकर हृषि के !”
“सुविधा करके स्वयं भ्रमण-विश्राम की ,
सब कृतज्ञता तुम्ही न ले लो राम की ।
औरो को भी सखे, भाग दो भाव से ,
कर दो केवल पार हमे कल नाव से ।”

ध्रुवतारक था व्योम विलोक समाज को ,
प्रभु ने गौरव-मान दिया गुहराज को ।
प्रकृत वृत्त जब सुना परन्तु विपाद का ,
मुरझ गया मन सुमन-समान निपाद का ।
देवमूर्ति वे राजमन्दिरो के पले ,
कुश-शय्या पर आज पड़े थे तस्तले ।
हाय ! फूलते हुए भाग्य कैसे फले ,
उस भावुक के अथु उमडकर वह चले ।
“धुरक रही है साँय साँय कर रात भी ,
मानो लय मे लीन तरगाधात भी ।
तब भी लक्ष्मण धूम रहे हैं जागकर ,
निद्रा का निज तुच्छ भाग तक त्यागकर ।

यह किसका अभिशाप न जाने हे हरे ,
 चलती है दुर्नीति राज्य से ही अरे !
 खोकार ऐसे लाल, लिया क्या केकयी ?
 क्या करना था तुझे, किया क्या केरुयी ?
 इस भव पर है असित वितान तना सदा ,
 जिसके रम्भे दुःख, शोक, भय, आपदा ।
 उस अचिन्त्यगति गगन तले जब तक पटे ,
 हम हैं कितने विवश सभी छोटे-बड़े !
 जो प्रभु निज सावेत छोड़, वन को चला ,
 उसके समुख शृगवेरपुर क्या भला ?
 पर उसको दूँ और कौन उपहार मैं ?
 हैंगा कल कृतकृत्य आपको वार मैं ।”
 बद्धमुष्टि रह गया वीर, ज्यों भ्रान्त हो ,
 बोले तब सीमिति—“वन्धु, तुम शान्त हो !
 तुमको जिनके लिए दुःस या गोप है ,
 स्वय उन्हें निज हेतु सीख्य-मन्तोप है ।
 शृगवेरपुर - राज्य करो तुम नीति से ,
 आर्य तृप्त है मात्र तुम्हारी प्रीति से ।
 मिला धर्म का आज उन्हे वह धन नया ,
 जिसपर कोसल राज्य स्वयं बाग गया ।

समय जा रहा और काल है आ रहा ,
 सचमुच उलटा भाव भुवन में द्या रहा ।
 कोट-पूर्ण हैं कुसुम, कण्टकित है मही ,
 जो सबसे वच निकल चले, विजयी वही ।
 कर्म-हेतु ही कर्म नहीं हम कर सकें ,
 तो उनके फल हमें कहाँ से धर सकें ।
 कर्ता मानो जिसे तात, भोक्ता वही ,
 वन्ध-मुक्ति को एक युक्ति जानो यही ।
 मेरे 'लिये विषाद व्यर्थ है, धन्य मैं ,
 सुप्त नहीं हूँ, सतत सजग, चेतन्य मैं ।
 मैं तो निज भवसिन्धु कभी का तर चुका ,
 रामचरण में आत्मसमर्पण कर चुका ।
 जीव और प्रभु-मध्य अड़ी माया खड़ी ,
 वह दुरत्यया शौर शक्तिशीला बड़ी ।
 साधो उसको और मनाश्रो युक्ति से ,
 सखे, समन्वय करो भक्ति का भुक्ति से ।"

निकल गई चुपचाप निशा अभिसारिका ,
 पढ़ी द्विजों ने घोघमयी कल-कारिका ।

सबने मंजन किया, निरर ग्रातश्छटा ,
 स्वर्णघटित थी रजत जाह्नवी की घटा ।
 लेकर घट का दूध जटा प्रभु ने रची ,
 अब सुमन्त्र के लिये न कुछ आशा बची ।
 “स्वयं क्षात्र ने लिया आज वैराग्य क्या ?
 शान्त नर्वया हुआ हमारा भाग्य क्या ?”
 प्रभु ने उन्हे प्रबोध दिया तब प्रीति से—
 “श्रत ले तो फिर उसे निभा दे रीति से ।
 जटाजूट पर छव करे छाया भले ,
 किन्तु मुकुट की हँसी मात्र है तरुतले ।
 सीम्य, कहाँक्या काम भला विधि वाम का ?
 यह तो है सीभाग्य तुम्हारे राम का ।
 जाकर मेरा कुशल कहो तुम तात से ,
 दो सबको सन्तोष, मिले जिस बात से ।
 मूलन्तुल्य तुम रहो, फूल-से हम लिले ,
 कब्र बीते यह अवधि और आकर मिलें ।
 फिर भी ये दिन अधिक नहीं हैं, अल्प हैं ,

समयोचित सन्देश उन्हे प्रभु ने दिये ,
 सबके प्रति निज भाव प्रकट सबने किये ।
 कह न सके कुछ सचिव विनीत विरोध मे ,
 उमडी करणा और प्रवोध-निरोध मे ।
 देख सुमन्त्र-विपाद हुए सब अनमने ,
 आये सुरसरि-तीर त्वरित तीनो जने ।
 | वैठी नाव निहार लक्षणा - व्यजना ,
 | 'गगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना ।

बढ़ी पदो की ओर तरगित मुरसरी ,
 मोद-भरी मदमत्त भूमती थी तरी ।
 धोली गुह ने धूलि अहल्या-तारिणी ,
 कवि की मानस-कोप-विभूति-विहारणी ।
 प्रभु-पद धोका भक्त आप भी धो गया ,
 कर चरणमृत-पान अमर वह हो गया ।
 हीस रहे थे उधर अश्व उद्ग्रीव हो ,
 जैसे उनका उडा जा रहा जीव हो ।
 प्रभु ने दिया प्रवोध हाथ से, हेरकर ,
 पोछा गुह ने नेत्र-नीर, मुहं केरकर ।

“कोमल है वम प्रेम, कठिन कर्तव्य है,
कौन दिव्य है, कौन न जाने भव्य है ?

“जय गगे, आनन्दतरगे, कलरवे,
अमल अचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे ।
“सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा ।
दरस-परस की सुकृति-सिद्धि ही जय मिली,
माँगे तुमसे आज और क्या मैथिली ?
वस, यह वनकी अवधियथाविधि तर मकूं ।
समुचित पूजा-भेट लौटकर कर सकूं ।”
उद्धासित थी जहुनन्दिनी मोद मे,
किरण - मूर्तियाँ खेल रही थी गोद मे !
देही थी भलक भलक पर भूमती,
त्रिविध पवन गति अलक-पलक थी चूमती ।

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी—
“निज कुल की ही कीर्ति प्रिये, भागीरथी ।”
“तुम्ही पार कर रहे आज जिसको अहो !”
सीता ने हँस कहा—“क्यो न देवर, कहो ?”

"है अनुगामीमात्र देवि, यह दास तो ।"

गुह बोला—“परिहास बना बनवास तो ।”

वहाँ हर्ष के साथ कूतूहल छा गया, नाव चली या स्वयं पार ही आ गया ।

"मिलन-स्मृति-सो रहे यहाँ यह कुद्रिका,"

- सीता देने लगी स्वरंगमणि - मुद्रिका ।

गुह बोला कर जोड कि—“यह कैसी कृपा ?

न हो दास पर देवि, वभी ऐसी कृपा ?

क्षमा वरो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे,

स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे ।

जड भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे,

उसे थोड पायाण भला भावे किसे ?”

उसे हृदय से लगा लिया श्रीराम ने,

ज्यो त्यो करके विदा किया धी-धाम ने ।

पथ मे सबके प्रीति-हर्ष-विस्मय बनें,

तोर्यराज की ओर चले तीनो जनें ।

कही खडे थे खेत, कही प्रान्तर पडे,

शून्य सिन्धु के छोप गाँव छोटे-बडे ।

पथ के प्रहरी वृक्ष भूमते थे कही ,
 खग-मृग चरते हुये धूमते थे कही ।
 छोटी-मोटी कही कही थी भाड़ियाँ ,
 बनी शशादिक हेतु प्राकृतिक वाड़ियाँ ।
 पगड़ंडी थी गई मार्ग से ठीक यों—
 शास्त्र छोड बन जाय लोक की लीक ज्यों ।
 टीले दीखे कही और भरके कही ,
 हृश्य वावड़ी, कूप और सर के कही ।
 पंथ-पाइरों में मिले पथिक-चत्वर उन्हे ,
 कीरूहल ने हरा किया सत्वर उन्हें ।
 चरणों पर कण और मुखों पर विन्दु थे ,
 रज-पूरण थे पद्म, अमृतयुत इन्दु थे ।
 देख घटा-सी पड़ी एक छाया धनी ,
 छहर गये कुछ काल वहाँ कोसलधनी ।
 “तुम दोनों क्या नहीं थके ? मैं ही थकी ?”
 सीता बुद्ध भी और न आगे कह सकी ।
 हँसते हँसते सती अचानक रो पड़ी ,
 तप्त हेम की मूर्ति द्रवित-सी हो पड़ी ।
 “मुझको अपने लिए नहीं कुछ सोच है ,
 तुम्हें असुविधा न हो, यही सकोच है ।”

“प्रिये, हमारे लिए न तुम चिन्ता करो,
अभी नया अभ्यास, तनिक धीरज धरो ।”

जुड़ आई थी वहाँ नारियाँ ग्राम की,
वे साधक ही सिढ़ हुईं विश्राम की ।
सीता मबसे प्रेम-भावपूर्वक मिली,
लतिकाओं में कुसुमकली-न्सी वे खिली ।
“शुमे, तुम्हारे कौन उभय ये थे-थहुँ?”
‘गोरे देवर, श्याम उन्हींवे उयेउ हैं ।’
वैदेही यह सरल भाव से कह गई,
तब भी वे कुद्द तरल हँसी हँस रह गई ।

यो स्वच्छन्द विराम लाभ करते हुए,
मार्ग-जनों में भूरि-भाव भरते हुए,
पर-दिन तीनों तीर्थराज में आ गये,
द्विगुण पर्व-न्सा भरदाज मुनि पा गये ।
स्वयं प्रिवेणी धन्य हुई उन तीन से,
दोल उठे सौमित्रि अमृत में लीन-से—
“देखो भाभी, तीर्थराज को यह छटा,
वर्षा से आ मिली शरद बी-न्सो पटा ।”

हँसकर बोली जनकसुता सस्नेह यो—
 “श्याम-गौर तुम एव प्राण, दो देह ज्यो ।”
 रामानुज ने कहा कि “भाभी, क्यो नहीं,
 सरस्वती-सी प्रवट जहाँ तुम हो रही ।”
 “देवर, मेरी सरस्वती अब है कहाँ ?
 सगम-शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ ।
 धूप-धाँह का वस्त्र मात्र उसका बड़ा,
 मन्द पवन से लहर रहा है यह पड़ा ।”
 प्रभु बोले—“यह गीत-काव्य-चिनावली,
 तुम माई के लाल, जनक की बे लली ।
 अभियक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला,
 विन्तु आप अनुभूति यहाँ है निश्चला ।
 तुम ये दो दो कलाकार जीते रहो,
 मुझे प्रशसा कठिन एक की भी अहो ।
 सुनो, मिलन ही महातीर्थ समार मे,
 पृथ्वी परिणत यही एव परिवार मे ।
 एव तीसरे हुए मिले जब दो जहाँ,
 गगा-यमुना वनी निवेणी ज्यो यहाँ ।
 त्याग और अनुराग चाहिए वस, यही ।”
 भरद्वाज ने कहा—“भरा तुममे वही ।

जाओगे तुम जहाँ, तीर्थ होगा वही,
 मेरी इच्छा है कि रहो गृह-सम यही ।”
 प्रभु बोले—‘कृतकृत्य देव, यह दास है,
 पर जनपद के पास उचित व्या वास है ?
 ऐसा वन निर्देश कीजिए अब हमे,
 जहाँ सुमन - सा जनकसुता का मन रखे ।
 अपनी सुध ये कुलधियाँ लेती नहीं,
 पुरुष न लें तो उपालभ्न देती नहीं ।”
 “कर देती है दान न अपने आपको,
 कैसे अनुभव करें स्वात्म-सन्ताप को ।
 वैदेही की जाति सदेव विदेहिनी,
 वन में भी प्रिय सग सुखी कुल-गेहनी ।
 चिन्हकूट तव तात, तुम्हारे योग्य है,
 जहाँ अचल सुख, शान्ति और आरोग्य है ।”
 “जो आज्ञा” कह राम सहर्ष प्रयाग से,
 चिन्हकूट की ओर चले अनुराग से ।
 दिखला आये मार्ग आप मुनिवर उन्हे,
 मिली सूर्य की सुता धन्य धुनिवर उन्हे ।
 जल या इतना अमल कि नभ-सा नील था,
 विभ-वप के ही वर्ग-योग्य समशील था ।

राजपुत्र भी कलाकुशल थे वे कृती,
धीर, धारणाधार, धुरन्धर, ध्रुवधृती ।
लक्ष्मण लाये दार-लताएं तोड़कर,
नौका निर्मित हुई उन्हीको जोड़कर ।
सभी निद्धावर स्वावलम्ब के भाव पर,
सीता प्रभु-कर पकड़, चटी निज नाव पर ।
ज्यो पुरेन पर पुल परिनी तर चली,
चले सहारा दिये हस सम युग बली ।

यरके यमुना-स्नान, विलम वट के तले,
लक्ष्मण, सीता, राम विकट वन को चले ।
वहाँ विविध वैचित्र्य, विलक्षण ठाठ थे,
अगणित आदृति हृदय, प्रदृति के पाठ थे ।
“वन मे अग्रज अनुग, अनुज हैं अग्रणी ।”
सीता ने हँस कहा—“न हो कोई व्रणी ।”
“भाभी, फिर भी गई न आई तुम कही,
मध्य भाग की मध्यभाग मे ही रही ।”
मुसकाये प्रभु, मधुर मोदधारा वही,—
“वन मे नागर भाव त्रिये, अपना यही ।

बीते यो ही अवधि यहाँ हँस-खेलकर
 तो हम सब कृत्कृत्य, कष्ट भी खेलकर ।”
 “आहा । मैं तो चौंक पड़ी, यह वक्ष से,—
 फड़ फड़ करके कौन उडा दृढ़ पक्ष से ।
 देखो, पहुँचा हाल कही का वह कही ।
 वैमानिक हो, किन्तु मनुज पक्षी नही ।
 ऊपर विस्तृत व्योम, विपुल वसुधा तले,
 फिर भी, कैसे फाड़ फाड़ अपन गले—
 वे तीतर नख-चन्द्र मारकर लड़ रहे,
 कौन कहे किस तुच्छ बात पर अड़ रहे ।
 यहाँ सरल सकुचित घनी वनवीथि है,
 वनस्थली की माँग बनी वनवीथि है ।
 बनलहमी सौभाग्यवती फूले-फले,
 भूले शिशु-सी शान्ति, पदन पखा भले ।
 आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
 पक्षो से पथ भाड़, चपल चितचोर यह ।
 मचक मचक वह छीश-मण्डली खेलती,
 लचक लचक वच डाल भार है खेलती ।
 नाथ, सभी बुद्ध त्याग, जानकर भूँठ हो,
 खडे तपस्वी-तुल्य कहो ये ठूँठ ही ।”

“इन पर भी तो प्रिये, लताएं चढ़ रही ।
 मानो फिर वे इन्हे हराकर, बढ़ रही ।”

“कही सहज तरुतले कुसुम-शश्या वनी,
 कंध रही है पड़ी जहाँ आया धनी !
 पुस धीरे से किरण लोल दलपुञ्ज मे,
 जगा रही है उसे हिलाकर कुञ्ज मे ।
 किन्तु वहाँ से उठा चाहतो वह नहीं,
 कुछ करवट-सी पलट, लेटती है वही ।
 सखि, तरुवर-पद-मूल न छोडो तुम कभी,
 एक रूप है वहाँ फूल - काँटे सभी !
 फँलाये यह एक पक्ष, लीला किये,
 छाती पर भर दिये, अग ढीला किये,-
 देखो, ग्रीवा - भग - सग किस ढग से,
 देख रहा है हमे विहग उमग से ।
 पाता है जो जहाँ ठीर, उगता वही;
 मिलता है जो जिसे जहाँ, चुगता वही ।
 अन तत्र उद्योग सर्व सुखसत्र है,
 पर सुयोग सयोग मुख्य सर्वत्र है ।”

“माना आर्ये, सभी भाग्य का भोग है,
 किन्तु भाग्य भी पूर्वकर्म का योग है ।”

“प्रिये, ठोक है, भेद रहा वस, नाम का, लक्ष्मण का उद्योग, भाग्य है राम का ।”

“नाथ, भाग्य तो आज मैथिली का बड़ा, जिसको यह सुख छोड़, न धर रहना पड़ा । वह किंशुक क्या हृदय खोलकर खिल गया, लो, पलाश को पुष्प नाम भी मिल गया । ओहो ! कितनी बड़ी केचुली यह पड़ी ! पवन-पान कर फूल न हो फिर उठ खड़ी ।”

“आयें, तब भी हमें कौन भय है भला ? वह मरने भी चला, मारने जो चला । अच्छा, ये क्या पड़े ? वताओ तो सही,” “देवर सब सब नहीं जानते, वस यही । विविध वस्तुएं हमे यहाँ हैं देखनी, पर इनसे क्या बने न सुन्दर लेखनी ?”

“ठोक, यहाँ पर शल्य छोड़कर शल गया, नाम रहे पर काम तुम्हारा चल गया ! मुस्तकगन्धा खुदी मृत्तिका है इधर, बने आद्रंपदचिह्न, गमे शूकर जिधर, देखो, शुकशिशु निकल निकल वह नीड़ से, धुसता है फिर वही भीत-सा भीड़ से ।

नीरस तरु का प्राण शान्ति पाता नहीं ,
 जो जाकर भी, अवधि विना जाता नहीं !”
 “पास पास ये उभय वृक्ष देखो, अहा !
 फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा ।”
 “है ऐसी ही दशा प्रिये, नर लाक की ,
 कही हर्ष की वात, कही पर शोक की ।
 झाड़ विषम झखाड़ बने बन मे खड़े ,
 काँटे भी हैं कुसुम-सग बाटे पड़े ।”
 “काँटो का भी भार मही माता महे ,
 जिसमे पशुता यहाँ तनिक डरती रहे ।
 बन तो मेरे लिए कुतूहल हो गया ,
 कौन यहाँ पर विपुल बीज ये बो गया ?
 अरे, भयकर नाद कौन यह भर रहा ?”
 “भाभी, स्वागत सिंह हमारा कर रहा ।
 देखा चाहो शब्दवेद तुम, तो कहो ?”
 “फिर देखूँगी, अभी शान्त ही तुम रहो ।
 बन मे सौ सौ भरे पड़े रस के घड़े ,
 वे मटके-से लटक रहे कितने बड़े ।
 क्या कर सकती नहीं क्षुद्र की भी क्रिया ?”
 पुलक उठी मधुचक्र देख प्रभु दी प्रिया ।

“माली हारें सीच जिन्हे आराम में ,
 बढ़ते हैं वे वृक्ष सहज वनधाम में ।
 आहा ! ये गजदन्त और मोती पड़े ,
 पके फलो के साथ साथ मानो झड़े ।
 जिन रत्नों पर विके प्राण भी पण्य में ,
 वे ककड़ हैं निपट अण्य अरण्य में ॥”

भूचल यो सब वाल्मीकि महामुनि से मिले ,
 ध्यानमूर्ति निज प्रकट प्राप्त वर वे खिले ।
 वे ज्यो कविकुलदेव धरा पर धन्य थे ,
 ये नायक नरदेव अपूर्व अनन्य थे ।
 “वे, दाशरथि राम आज वृतकृत्य है ,
 करता तुम्हे प्रणाम सपरिकर मृत्य है ॥”
 ॥ “राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है ,
 कोई रुचि बन जाय, सहज सम्भाव्य है ॥”

आये फिर सब चित्रकूट मोदितमना ,
 जो अदूट गढ़ गहन वन-श्रो का बना ।
 जहाँ गर्भगृह और अनेक सुरग थे ,
 विविध धातु-नापाण-पूर्ण सब अग थे ।

जिसकी शृङ्खावली विचित्र बढ़ी-बढ़ी ,
 हरियाली की झूल, फून-पत्ती रड़ी ।
 गिरि हरि का हरवेप देख वृप वन मिला ,
 उन पहले ही वृपारूढ का मन खिला ।
 “शिला-कलश से छोड उत्स उद्रेक-सा ,
 करता है नग-नग व्रक्ति-अभिपेक-सा ।
 क्षिति सलिलकण किरण योग पाकर सदा ,
 वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि-ममदा ।
 वन-मुद्रा मे चित्रकूट का नग जड़ा ,
 किसे न होगा यहाँ हर्य-विप्रमय बड़ा ?”

।

लक्ष्मण ने भट्ट रची मन्दिराकृति कुटी ,
 मधु-मुगन्धि के हेतु सरोरुह ममुटी ।
 वास्तु शान्ति-सो स्वय प्रवट थी जानको ,
 की मुनियो ने रीति तथापि विवान की ।
 वनचारी जन जुडे जोड़कर डालियाँ ,
 नृत्य-गान-रत हुए, बजाकर तालियाँ ।

“लेकर पवित्र नेत्रनीर रघुवीर धीर ,
 वन मे तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम ,
 व्योम के वितान तले चन्द्रमा का छन तान ,
 सच्चा सिंह-आसन बिछा दे, बैठ जाओ तुम ।
 अर्ध्यपाद्य और मधुपक्ष यहाँ भूरि भूरि ,
 अतिथि समादर नवीन नित्य पाओ तुम ,
 जगल मे मगल मनाओ, अपनाओ देव ,
 शासन जनाओ, हमे नागर बनाओ तुम ।”

- | पृथ्वी को मन्दाकिनी लेने लगी हिलोर , |
 स्वर्गंगा उसमे उत्तर दूबी अम्बर बोर । |

पुरदेवी - सी यह कौन पड़ी ?
अमिला मूर्च्छना मीन पड़ी ।
किन तीक्षण करो से छिन्न हुई—
यह कुमुद्वती जल - भिन्न हुई ?
सीता ने अपना भाग लिया ,
पर इसने वह भी त्याग दिया ।
गौरव का भी है भार यही ,
उर्वा भी गुर्वा हुई मही ।
नव वय मे ही विश्लेष हुआ ,
यौवन मे ही यति-वेश हुआ ।
किस हृत विधि का यह योग हुआ ,
सुख - भोग भयकर रोग हुआ ।
होता है हित के लिए सभी ,
करते हैं हरि क्या अहित कभी ।
इसमे क्या हित है, कहे जिसे ,
बतलावेगा वस समय इसे ।

भर भरकर भीति-भरो ग्रॅखियाँ ,
करतो थी उसे सजग सखियाँ ।

पर धोक भयंकर खन्तर था ,
 चेतन्य मोह से बढ़कर था ।
 वह नई वधु भोली - भाली ,
 जिसमें सु-राग की थी लाली ,
 कुम्हलाई यथा कैरवाली ,
 या ग्रस्त चन्द्र की उजयाली ।
 मुख-कान्ति पढ़ी पीली पोली ,
 आँखे अशान्त नीली नीली ।
 क्या हाय ! यही वह वृशकाया ,
 या उसकी शेष सूक्ष्म द्याया ?
 सखियाँ अवश्य समझाती थी ,
 आये परन्तु भर आती थी ।
 बोली सुलक्षणा नाम समी—
 “है धीरज का ही काम समी !
 विधि भी न रहेगा वाम सखी ,
 किर आवेगे श्रीराम सखी !
 नृप ने सुमन्त्र को भेजा है ,
 मृगयोचित साज महेजा है !
 यह कहा है कि 'श्रीराम विना ,
 जावेगा पल पल वर्पं गिना ।

होगे यथेष्ट चौदह पल ही,
 ले आना उन्हे आज कल ही ।
 इसलिए न इनना सोच करो,
 अब भी आशा है, धैर्य धरो ।
 बोली ऊर्मिला विषादमयी—
 । “सब गया, हाय आशा न गई ।
 । आवे, निष्फल भी बनो रहो,
 । तुम हो हीरे को कतो अहो ।
 रखतो हो मूल्य मारकर भी,
 उज्ज्वल हो अन्धकार कर भी ।
 अब भी सुलक्षणे, आशा है ?
 यदि है, विश्वास-विनाशा है ।
 लौटेंगे क्या प्रभु और वहन ?
 उनके पीछे—हा ! दुख-दहन ।
 जो जाता है वे जान चुके,
 उनके महत्व को मान चुके ।
 जिन व्रत पर छोड गये सब वे,
 लौटेंगे उसे छोड अब वे ?
 निकली अभागिनी मैं ऐसी,
 तैलोक्य में न होगी जैसी ।

दे सको न साथ नाथ का भी,
 ले सकी न हाय ! हाथ का भी !
 यदि स्वामि-सगिनी रह न मकी,
 तो क्यो इतना भी कह न सकी—
 'हे नाथ, साथ दो आता का,
 यल रहे मुझे उस आता का !
 है नाण आज भी इष्ट मुझे,
 ये प्राण आज भी इष्ट मुझे !
 रहकर वियोग से अस्थिर भी,
 देखूँ मैं तुम्हे यहाँ फिर भी !
 है प्रेम स्वय कर्तव्य बड़ा,
 जो खीच रहा है तुम्हे सड़ा !
 यह आतृ-स्नेह न ऊँ हो,
 लोगो के लिए नमूना हो !
 सुनकर जीजो को मर्म कथा,
 गिर पड़ी मैं, न सह सकी व्यापा !
 वह नारि-सुलभ दुर्बलता थी,
 आकस्मिक-देग-विकलता थी !
 करना न सोच मेरा इससे,
 ज्रत मे कुछ विम्ब पडे जिससे !

आने का दिन है दूर सही,
 पर है, मुझको अबलम्ब यही।
 आराध्य युग्म के सोने पर,
 निस्तव्ध निशा के होने पर,
 तुम याद करोगे मुझे कभी,
 तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।
 प्रिय उत्तर भी सुन सकी न मैं,
 निज चिर गति भी चुन सकी न मैं।
 यह दोर्घ काल काटूँ जिससे,
 पूछूँ ग्रन्थ हाय। और किससे?
 सजनी सुलक्षणे, धर्म धर्म,
 तो कहो, क्या करूँ, क्या न करूँ?
 जिससे महत्व से मण्डित फिर,
 देखूँ वह विकसित वदन रुचिर।
 मैं अपने लिए अधीर नहीं,
 स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं।
 क्या से क्या हाय। हो गया यह,
 रस में विष कौन बो गया यह।
 जो ये निज प्राप्य छोड़ देंगे—
 अप्राप्य अनुग उनके लेंगे?

माँ ने न तनिक समझा-वूझा ,
 यह उन्हें अचानक क्या सूझा ?
 अभिषेक कहाँ, बनवास कहाँ ?
 है नहीं क्षणिक विश्वास यहाँ ।
 भावी समोप भी दृष्ट नहीं ,
 क्या है जो सहसा सृष्ट नहीं ,
 दुरदृष्ट, बता दे स्पष्ट मुझे ,—
 क्यों है अनिष्ट ही इष्ट तुझे ?
 तू है विगाड़ता काम बना ,
 रहता है बहुधा बाम बना ,
 प्रतिकार-समय तक दिये बिना !
 छिपकर, कुछ अकवक किये बिना—
 करता प्रहार तू यहाँ वहाँ ,
 धोखा देता है जहाँ तहाँ ।
 तूने जो कुछ दुरदृष्ट, किया ,
 आभास न्वप्त में भी न दिया ।

कुछ शमन-यत्न करते हम भी ,
 है योगसाध्य दुर्दम यम भी ।”

नभ - ओर ऊमिला ने देखा ,
 थी ईर्प्पा - भरी हृषि - रेखा ।
 तब नभ भी मानो धधक उठा ,
 सध्यारुणिमा - मिस भभक उठा ।

रीता दिन बीता, रात हुई ,
 ज्यो त्यो वह रात प्रभात हुई ।
 फिर सूनी सूनी साँझ हुई ,
 मानो सब देला बाँझ हुई ।
 ऊमिला कभी तो रोती थी ,
 फिर कभी शान्त-सी होती थी ।
 देता प्रबोध जो, सुनती थी ,
 मन से अतक्यं कुछ गुनती थी ।

उन मातायों की कहण-कथा ,
 देती थी दारण द्विगुण व्यथा ।
 सुत गयं तथा पति पढे यथा ,
 रोने तक का अवकाश न था ।
 आँधी से उखडे वृक्ष - सदरा ,
 थे भूप शोक - हृत जर्जर-कुदा ।

ज्यो हृतप्रसूना लतिकाएँ ,
 वे थी समीप दायें - वाये ।
 ज्यो त्यो कर शोक सहन करके ,
 अचल से वायु वहन करके ,
 बोली प्रभुवरप्रसू तव यो ,
 "हे नाथ, अधीर न हो अब यो ।
 तुमने निज सत्य - धर्म पाला ,
 सुत ने स्वापत्य - धर्म पाला ,
 पत्नी पति - सग वनी देवी ,
 प्रिय अनुज हुआ अग्रज - सेवी ।
 जो हुआ सभी अविचिन्त हुआ ,
 पर धन्य मनुष्य - चरित्र हुआ ।
 गौरव-बल से यह शोक सहो ,
 देखो हम सबकी ओर अहो !"
 भूपति ने आँखें खोल कहा ,—
 "यह कौन है कि जो बोल रहा ?
 कौशल्ये धन्य राम - मात. ,
 क्या कहूँ, हाय रे ! धिक् धातः !
 यह शोक कहाँ तक गोकूँ मैं ?
 किस मुहं से तुम्हे विलोकूँ मैं ?

हा । आज हृषि भो कहाँ गई ?
 वह वधु जानकी जहाँ गई ।
 सीता भी नाता तोड़ गई,
 इस वृद्ध ससुर को छाड़ गई ।
 ऊमिला वहूँ की बड़ी वहन ।
 किस भाति कर्ह में शाक सहन ?
 ऊमिला कहाँ है, हाय 'वहूँ' ।
 दूँ रधुकुल की असहाय वहूँ ।
 मैं ही अनर्थ का हेतु हुआ,
 रविकुल में सचमुच 'केतु' हुआ ।
 यदि राम न लीटेगे वन से,
 तो भेट न होगी इस जन से ।
 दैकेयी, भोगकर दलि भेरी,
 गजयश्री तृप्त रहे तेरो ।
 पावर दगरथ जैसा दानी,
 कर चुकी भीगिनी मनमानी ।
 माँगो तुम भी बुद्ध पटरानी,
 दूँ लैकर आँखो वा पानी ।"
 "माँगूँगी वयो न नाय, तुमसे,
 दो यही मुझे कल्पद्रुम-से ।

कैकेयी हो चाहे जैसी ,
सुत चिता न हो मुझ जैसी ।"

"वया यही मागवर लेती हो ,
या मरण जान्ति तुम देती हो ।
पर कहाँ भाग्य मे वह मेरे ,
कृत कर्म जो मुझे हैं धेरे ।"

"दोनों सुगनियाँ रोनी थी ,
पति के पद पद्म भिगोनी थी ।
नृप राम राम ही रटते थे ,
युग के समान यन बटते थे ।
फिर भी मुमन्त्र हैं साथ गये ,
गृह - दशा देख रघुनाथ गये ।

| अटकी थी आज्ञा एक यही ,
जो थी अब उनको जिला रही ।
आज्ञा अवलम्बदायिका है , । ।

| वया ही वन-गीत-गायिका है । ।

| वह आप वयो न नाता तोडे ,
पर कौन है कि उसको छोडे ?

ऊँचे अट्टो पर चढ़ चढ़कर—
 सब ओर पथो मे बढ़ बढ़कर,
 रथ मार्ग देखने लगे सभी,
 फिर आवे राघव कही अभी।
 पर यदि रघुनाथ लौट आते—
 तो प्रथम ही न वे बन जाते।
 लौटे सुमन्त्र ही बेचारे,
 अनुरोध - तर्क भी सब हारे।

कर मे धोडो की रास लिये,
 निज जीवन का उपहास किये,
 होकर मानो परतन्त्र निरे,
 सूना रथ लिये सुमन्त्र फिरे।

रथ मानो एक रिक्त घन था,
 जल भी न था, न वह गर्जन था।
 वह विजली भी थी हाय! नही,
 विधि-विधि पर कही उपाय नही।
 जो थे समीर के जोडो के,
 उठते न पैर थे धोड़ों के।

थे राम विना वे भी रोते , , ~
 पशु भी प्रेमानुरक्त होते ।
 जो भीपण रण में भी न हटे ,
 मानो . अब उनके पैर कटे ।
 अति भार हुआ रीता रथ था ,
 गृह-पथ मानो अरण्यपथ था !
 अवसन्न सचिव का तन-मन था ,
 करता समीर भी सन सन था ।
 सिर पर अनन्त-सा आ दूटा ,
 झटि दूटी और भाग्य कूटा !
 धरती मानो थी मरी पड़ी ,
 धी प्रकृति भीति से भरी पड़ी ।
 सम्मुख मानो मुख खोल बड़ा .
 खाने को था दिग्दैत्य सड़ा !
 या सोच यही मुख-सरसिज को ,
 किस भाँति दिलाऊँगा निज को ?
 इसलिए द्यामता लाता था—
 उसमे निज सूति छिपाता था ।
 उर विकल हुआ क्या करता था ?
 साँसे शरीर में भरता था ।

सन्देश सुनाये विना कही ,
गिर जाय न हा । यह देह यहो ।

जब रजनी आकर प्राप्त हुई ,
बाहर हो साँझ समाप्त हुई ,
नीरव गति से, उदास उर मे ,
तब सचिव प्रविष्ट हुए पुर मे ।
थी पड़ी पुरी भी काली - सी ,
(जगती थी जहाँ दिवाली-सी ।)
खोले थी मानो केज पुरी ,
रखेथे थी विधवा - वेश पुरी ।
क्या धुसे सुमन्न रसातल मे ?
रक उठो साँस भी पल पल मे ।
यह तमी हटेगी क्या न कभी ,
पी यहाँ फटेगी क्या न कभी ?
मव चौक बन्द थे, पथ सूने ,
हो गई अमावस - सो पूने ।
रहती जो गीत - गुजरित - सी ,
गृह-राजि आज यी स्तम्भित-सी ।

पुर - रक्षक नीरव फिरते थे,
 आमू अमात्य के फिरते थे।
 “हो चुकी लूट घर की गहरी,
 अब विसे रखाते हैं प्रहरी?”
 उत्तर मे ‘नहीं’ सुने न वही,
 इसलिए “राम लीटे वि नहीं?”
 यह पूछ न सके सचिव - वर से,
 पुरवासी मौन रहे ढर से।
 नीरवता ही अमात्य वर की,
 थी शोन - सूचना उत्तर की।
 वोई अनिष्ट बहते - बहते,
 बहुधा मनुष्य चुप ही रहते।
 रथ देव सभी ने सीस छुना,
 ऊपर अमरो ने म्यष्ट मुना,—
 ‘क्या फिरे हमारे आर्य नहीं?’
 सुर बोले—‘था सुर - वार्य वही।’
 देवों के वाक्य मुद्धा - सीचे,
 सुन पड़े न उसी समय नीचे।
 वे बोलाहज मे लीन हुए,
 पुरवासी दुष्ट से दीन हुए।

करके सुमन्त्र ने सिर नीचा ,
 आँखों को एक बार मीचा ।
 जिस रथ पर थे प्रसूत झडते ,
 उसपर थे आज अश्रु पडते ।

जब नृप समीप उपनीत हुए ,
 तब शोक भूल वे भीत हुए ।
 “यह पोत दूध ही जावेगा—
 या कूल किनारा पावेगा ?”
 गजराज पंक मे धौंसा हुआ ,
 छटपट करता था फंसा हुआ ,
 हथनियां पास चिल्हातो थी ,
 वे विवश विकल विल्हाती थी ,
 वोले नृप—“राम नहीं लौटे ?”
 गूंजा सब धाम—‘नहीं लौटे ।’
 नृप ने शासंक जो कुछ पूछा ,
 वस उत्तर हुआ वही दूछा ।
 यद्यपि सुमन्त्र ने कुछ न कहा ,
 प्रतिनाद तदपि नीरव न रहा ।

पर सचिव-मौन ही अधिक खला ,
 भर आया सूखा हुआ गला ।
 बोले फिर वे कि—“कहाँ छोड़ा ?
 ले चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा ।
 मुझको भी वही छोड़ आओ ,
 वह रामचन्द्र मुख दिखलाओ ।”

दूटी महीप की हृतननी ,
 दोले विषाद पूर्वक मन्त्री—
 “हे आर्य राम-मुख देखोगे ,
 दुख देख क्या न सुख देखोगे ?
 आवेगे वे यश को लेकर ,
 सुख पावेगे तुमको देकर ।
 नम मे भी नया नाम होगा ,
 पर चिन्ता से न काम होगा ।
 | गवसर ही उन्हे मिलावेगा ,
 | यह शोक न हमें जिलावेगा ।
 राघव ने हाथ जोड़ करके ,
 तुमसे यह कहा धैर्य घरके—

‘आता है जी मे तात यही ।—
पीछे पिछेल व्यवधान मटी—
बद लौटू चरणो म आकर,
सुख पाऊ भरम्पश पाक ।
पर धम रोकता है बन मे,
करना न सोच मेरा मन मे।
देगा मुझको विश्वान्ति वही,
दे तात तुम्हे भी शान्ति वही।’”

“क्या शान्ति ? शान्ति, हा शान्ति कहाँ ?
बन रहि केकयी ब्रान्ति यहाँ ।
ही गया पुण्य ही पाप मुझे,
दे रहा धम ही ताप मुझे।
कुछ नही कहा क्या सीता ने,
वैदेही वधु विनीता ने ?”

बोले सुमन्न—“वे वह न सकी,
कहने जाकर भी जबी, थकी।
साकेतस्मृति मे मश हुई,
करके प्रणाम भूलश हुई,
फिर नभ को ओर हाथ जोडे,
हृग सजल हुए थाडे थाडे ।

आँसू वरोनियो तक आये,
नीचे न किन्तु गिरने पाये।
 जा खड़ी हुई पनि व पीछे।
 ज्यो मुक्ति महा यति वे पीछे।”
 नृप रोने लगे—‘हाय ! सीते,
 हम हैं बठोर अब भी जीते।
 सहवर भी घोर कष्ट तन पर,
 आया न मैल तेरे मन पर।
 गृह-योग बने हैं बनसपृही,
 बन-योग्य हाय ! हम बने गृही।
 है विधे, व्यतिक्रम यह तेरा,
 किसलिए बता थम यह तेरा ?
 यदि मन्थरा न पहचान सकी,
 तो क्यो न केकयी जान सकी ?
 योई उससे जा वहे अभी,—
 ले, तेरे कण्टक टले सभी।”
 बोले सुमन्त्र सहसा बि “हहा—
 सक्षमण ने भी है यही कहा।”
 भूपति को जीवन भार हुआ,
 बस यह अन्तिम उद्गार हुआ—

“मेरे करयुग हे दूट चुके ,
 कटि दूट चुकी, सुख छूट चुके ।
 आँखों को पुनली निकल पड़ो ,
 वह यही कही है विकल पड़ो !
 खाकर भी बार बार भटके—
 क्यों प्राण अभी तक है अटके ?
 हे जोव चलो अब दिन बीते ,
 हा राम, राम लक्ष्मण सीते !”

वस, यही दीप-निवाणि हुआ ,
 सुत-विरह वायु का वाणि हुआ ।
 धुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर ,
 कुछ दिखलाई न दिया भू पर ।
 अति भीपण हाहाकार हुआ ,
 सूता - सा सब ससार हुआ ।
 । अर्द्धांग रानियाँ शोककृता ,
 । मूर्छिता हुई या अर्द्ध - मृता ?
 हाथों से नेत्र बन्द करके ,
 सहसा यह दृश्य देख डरके ,

‘हा श्वासो !’ यह जैसे रहमे,
 दर्दी मुस्करा जानो उर मे।
 मनुष्य धनाध - ने जो ऐ,
 जो ऐ पर्याय मज तो ऐ।
 ऐ नूर नमारे दिलारी,
 गलवे परिशार भार धारी।

“हो, यही नहे वे पुण्य विता ?”
 कर्त्ता दुरार को शोर - विता,
 उमिना गमी गुर - युग रवारे,
 जा विंगो बोयो में घोर !
 बैरोगी या मूँ भो न गुना,
 पाताला - शरोर विता न दुना।
 दम फट - यो नदि यही धीर्घे,
 मानो यो नदि जडो धीर्घे।
 गोना उगारो उद्धाम दृपा,
 विज एव वंशध्य - विवाम दृपा।
 तब यह पर्यने में धार उरी,
 दिम पुनर्मय में नवदग भरी !

भूपति-पद का विच्छेद हुआ ,
 यह मुनकर पिसेन खेद हुआ ?
 नभ भी रोया चुपचाप हहा ।
 हिम-करण-मिस अथु-मूह वहा ।
 दानव-भय-हारी देह मिटा ,
 वह राजगुरुणो का गेह मिटा ।
 ऊपर सुरांगनाएँ रोइं ,
 भू पर पुरांगनाएँ रोइं !
 थे मुनि वसिष्ठ तत्वज्ञानी ,
 पर व्यथा उँहोने भी मानी ।
 होकर भी जन्म - मृत्यु सगी ,
 रहते हैं भिन्न भाव - भंगी ।
 वह ढील अपूर्व मनोहारी ,
 हेमाद्रि - शृंग - समताकारी ,
 रहता जो मानो सदा यड़ा ,
 या आज निरा निश्चेष्ट पडा ।
 मुम पर थे शोक-विहृ अव भी ,
 नृप गये, न भाव गये तब भी !
 या इमीनिए वे थे सोये ,
 जल मिले स्वप्न में ही गोये !

मुहँ छिपा पदों मे प्रिय पति के ,
 आधार एक जो थे गति के ,
 कर रही विलाप रानियाँ थी ,
 जीवन-धन-मयी हानियाँ थी ।
 देखा वसिष्ठ ने और कहा—
 “कर देह यही का यही रहा ।
 वह श्वास-शृङ्खला टूट गई ,
 आत्मा बन्धन से छूट गई !”
 बोले सुमन्त्र कातर होकर—
 “क्या हुआ देखिए, यह गुरुवर !
 हा ! ग्रमर-पूज्य इस भाँति मरे !
 मुत चार कहाँ जो क्रिया करें ?”
 देकर धीर मुनि ने ज्ञान के प्रस्ताव से ,
 मे रखवा दिया नृप-शब सुरक्षित भाव से ।
 भेजे दक्ष फिर सन्देश के अक्षर गिना—
 बुला लावें भरत को प्रकृत वुत कहे विना ।
 । इस शोक के सम्बन्ध से—
 । सब देखते थे अन्ध से—
 । वह एक मूर्ति धूणामयी ,
 । वह थी कठोरा केक्यो !

सप्तम सर्ग

'स्वप्न' विमका देखकर सविलास—
कर रही है कवि-कला कल-हास ?
ओर 'प्रतिमा' भेट विसकी भास ;
भर रही है वह करण-निःश्वास ?

छिप भी है, भिन्न भी है, हाय !
यदों न रोवे लेगनी निरपाय ?
पदों न भर आगू बहावे नित्य ?
गीन फराणे, मरण रख साहित्य !

जानकर क्या शून्य निज साकेत ,
 लौट आये राम अनुज-समेत ?
 या उन्हींके अन्य रूप अनन्य ,
 ये भरत-शानुन्न दोनों धन्य ?
 क्यों हुए हैं ये उदास असान्त ?
 शीघ्र यात्रा ने किया है कलान्त ?
 या शशी मे ज्यों मही की म्लानि ,
 दूर भी विम्बित हुई गृह-म्लानि ?

“सूत, रथ की गति करो कुछ मन्द ,
 अश्व अपने से चले स्वच्छन्द ।
 अनुज, देखो, आ गया साकेत ,
 दोखते हैं उच्च राज-निवेत ।
 काम्य, कर्बुर, केतु-भूपित अहृ ,
 गगन मे ज्यों सान्ध्य धन सघटू ।
 अवनि-पुण्याकृष्ट, लोक-ललाम ,
 मौन खिच आया यथा सुरधाम ।
 विन्तु करते हाय ! आज प्रवेश ,
 कांपता है क्यों हृदय सविशेष ।

जान पड़ता है, न जाकर आप ,
 मैं खिचा जाता, खिचे ज्यो चाप !
 जब उमड़ना चाहिये आळाद ,
 हो रहा है क्यो मुझे अवसाद ?
 निकट ज्यो ज्यो आ रहा है गेह ,
 सिहरती है क्यो न जाने देह !
 बन्धु, दोनो ओर दो तुम ध्यान ,
 आ गये ये बाह्य नगरोद्यान !
 हो रही सन्ध्या ग्रभी उपलब्ध ,
 किन्तु मानो अद्वनिशि निस्तब्ध !
 नागरिक - गण - गोष्ठियो से हीन ,
 आज उपवन हैं विजन मे लीन ।
 बृक्ष मानो व्यर्थ बाट निहार ,
 भैंप उठे हैं भीम, भुज, थक, हार !
 कर रही सरयू जिसे कुछ रुद्ध ,
 वह रही है बायु - धारा शुद्ध ।
 पर किसे है आज इमको चाह ?
 भरं रही यह आप ठण्डी आह ,
 जा रहा है व्यर्थ गुरभि - समीर ,
 हैं पडे हृत - से सरो के तीर !

देखकर ये रिक्त क्रीड़ा क्षेत्र ,
 हैं भरे आते उमड़कर नेत्र ।
 याद है, घुड़दोड़ का वह खेल ,
 हँस मुझे जब हाथ से कुछ ठेल ,
 हय उड़ाकर, उछल आप समझ ,
 प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वजलक्ष ?
 दीक्ष पड़ते हैं न मादी आज ,
 मज न लाते हैं निपादी आज ,
 फिर रही गायें रँभाती दूर ,
 भागते हैं लय-शिखण्ड मयूर ।
 पादर्व मे यह गिसकतो-सी आप ,
 जा रही सरयू वही नुपचाप ।
 चल रही नावें न उसमें तैर ,
 लोग करते हैं न तट पर संर ।
 कुछ न कुछ विघटित हुआ विभ्राट ,
 विप्र-पक्षि-विहीन है सब घाट ।
 क्या हुआ सन्ध्याध्यं का वह ठाठ ?
 सुन नहीं पड़ता कही थृति-पाठ !
 ये तरणि अपने अतुल कुल-मूल ,
 सुरस देते हैं जिन्हें युग बूल ।

उदित थे जिस लालिमा के सग ,
 अस्त भी है रख वही रस - रग ।
 आयंगे फिर ये इसी विध कल्य ,
 जन्म - जीवन का यहो साफल्य
 नमन तुमको देव, निज कुलकेतु ,
 तुम तपो चिरकाल इस भव-हेतु ।
 मानते हैं अनुज, अपने ज्येष्ठ ,
 मुक्ति से आवागमन यह श्रेष्ठ ।
 घडकता है किन्तु मेरा चित्त ,
 ढकता है भावना का पित्त ।
 निकट हो दिनरात - सन्धि सहर्ष ,
 विन्तु जैचता है मुझे सधर्ष ।
 दीखता है अन्धकार समीप ,
 भीत मत हो, आयं हैं कुल-दीप ॥

तब कहा शशुभ्र ने भर आह—
 “या कहाँ मेरा विचार - प्रवाह ।
 घर पहुँचवर, वत्पना के साथ ,
 हो रहा या मैं सहर्ष सनाथ ।

पूछते थे कुशल मानो तात,
 प्रेम - पूर्वक भेटते थे भ्रात।
 बढ़ रहा था जननियों का मोद,
 हँस रही थी भाभियाँ सविनोद।
 कह यहाँ के वृत्त सहचर वाल,
 पूछते थे सब वहाँ के हाल।
 प्राप्त मातुल से हुए जो द्रव्य,
 या अमात्यों को वही सब ध्रव्य।
 सब हमे नव, हम सभीको नव्य,
 हो रहे थे जात किनने भव्य।
 वेष - भापा - भगियो पर हास्य,
 कर रहे थे सरम नवके आस्य।
 हम अतिथि से ये स्वगृह मे आज,
 सम्मिलित था क्या अपूर्व भमाज।
 हो रहा था हर्ष, उत्सव, गान,
 और सरका सग भोजन - पान।
 पर निरख अब हृष्य ये विपरीत,
 हो उठा है आर्य, मैं अति भीत।
 जान पड़ता है, पिना सविशेष,
 रुण होकर पा रहे हैं क्लेश।"

‘रुग्ण ही हो तात हे भगवान् ॥”
 भरत सिहरे शफर-वारि-समान ।
 ली उन्होने एक लम्बी माँस ,
 हृदय मे मानो गडी हो गाँस ।

“मूत तुम खीचे रहो कुछ रास ,
 कर चुके हैं अस्थ प्रति आयास ।
 या कि ढीली छोड दो, हा हन्त ,
 हो किमी विव इस अगति का ग्रन्त ।
 जब चले थे तुम यहाँ से दूत ,
 तब पिता क्या थे अधिक अभिभूत ?
 पहुँच ही अब तो गये हम लोग ,
 ठीक कह दो, था उन्हे क्या रोग ?”
 दूत बोला उत्तरीय समेट—
 “वर मका था मैंन प्रभु से भेट ।
 आप आगे आ रहा जो वीर ,
 आप हो उसके लिए न अधीर ।”

प्राप्त इतने मे हुआ पुर-द्वार ,
 प्रहरियो वा मौन विनयाचार ।

देखकर उनका गमीर विपाद ,
 भरत पूछ सके न कुछ सवाद ।
 उभय ओर सुहर्म्य पुलिनाकार ,
 दीच में पथ का प्रवाह-प्रसार ।
 बढ़ चला निशब्द-मा रथ-पोत ,
 था तरणित मानसिक भी लोत ।
 उच्च थी गृहराजि दोनों ओर ,
 निवट था जिसका न ओर न द्योर ।
 राजमार्ग-वितान-सा था व्योम ,
 छन-सा ऊपर उदित था सोम ।

“क्या यही साकेत है जगदीश !
 थी जिसे अलका भुक्ताती दीश ।
 क्या हुए वे नित्य के आनन्द ?
 शान्ति या अवसर्पता यह मन्द ?
 है न क्रय-विक्रय, न यातायात ,
 प्राणहीन पड़ा पुरी का गात !
 सुन नहीं पड़ती रही कुछ बात ,
 सत्य ही क्या तब नहीं हैं तात ?

आज क्या साकेत के सब लोग ,
 साम कर अपने अखिल उद्योग ,
 शान्त हो बैठे सहज ही शान्त ?
 दीखते हैं किन्तु क्यो उद्भ्रान्त ?
 सब कला-गृह शिक्षणालय बन्द ,
 छात्र क्यो फिरते नही स्वच्छन्द ?
 हो रहे बालक बँधे - से कीर ,
 बाल्य ही मे वृद्ध - सम गम्भीर !
 झिमिट आते हैं जहाँ जो लोग ,
 प्रकट कर कोई अकथ अभियोग ,
 मौन रहते हैं खड़े बेचैन ;
 सिर झुकाकर फिर उठाते हैं न ।'

चाहते थे जन—करे आक्षेप ,
 दीखते थे पर भरत निलेप ।
 देख उनका मुख समक्ष समोह ,
 भूल जाते थे सभी विद्रोह ।

"ये गगन - चुम्बित महा प्रासाद ,
 मौन साधे हैं खड़े सविपाद ।

गिल्य - कौशल के सजीव प्रमाण ,
 शाप से किसके हुए पापाण !
 आ खडे हैं मेट्टने को आधि ,
 आत्मचिन्तन-रन अचल सप्तमाधि ,
 विरणचूड, गवाक्ष - लोचन मीच ,
 प्राण - से व्रह्याण्ड मे निज खीच ?
 सूत, मागध, वन्दि, याचन, भृत्य ,
 दीम पढ़ते हैं न करते वृत्य ।
 एक प्रहरी ही, मनकं विशेष ,
 व्यक्त करते हैं अशुभ उन्मेष ।"

"आगये ।" सहसा उठा यह नाद ,
 बढ़ गया अवराध तब सवाद ।
 रथ रक्ता, उनरे उभय अविलम्ब ,
 ले सचिव सिद्धार्थ कर अवलम्ब ।
 "हो गये तुम जोर्ण ऐसे तात !
 मैं सुरूंगा क्या भयानक वात ?"
 मुहँ छिपा मचिवाक मे तत्वाल ,
 हो गये चुप भरत आँसू ढाल ।

सचिव उनको एक बार विलोक ,
ले चले, आँसू किसी विध रोक ।
“मैं कहूँ तुमसे भयानक बात ?
राज्य भोगो तुम जयी-कुल-जात !”
भरत को क्या ज्ञात था वह भेद ,
तदपि बोले वे सशक, सपेद—
“तात कंसे है ?” सचिव की उक्ति—
“पा चुके वे विद्व-वाधा-मुक्ति ।”
“पर कहाँ हैं इस समय नरनाथ ?”
सचिव फिर बोले उठाकर हाय—
“सब रहस्य जहाँ छिपे हैं रम्य ,
योगियों का भी वहाँ क्या गम्य ?”
“विन्तु उनके पुत्र हैं हम लोग ,
मार्ग दिखलायो मिले शुभ योग ।”
“मार्ग है शशुभ्र, दुर्गम सत्य ,
तुम रहो उनके यथार्थ अपत्य ।”

आगया शुद्धान्त का था द्वार ,
एक पद था देहली के पार ।

“हा पितः!” सहसा चिहुंक, चीत्कार,
गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार!

केकयी बढ़ मन्थरा के साथ,
फेरने उनपर लगी भट हाथ।
रह गये शत्रुघ्न मानो भूक;
कण्ठरोधक थी हृदय की हूक,
देर मे निकली गिरा—“हा अम्ब !
आज हम सबके कहाँ अवलम्ब ?
देखने को तात यून्य निकेन,
क्या बुलाये हम गये साकेत ?”
सिहरकर गिरते हुए से काँप;
बैठ वे नीचे गये मुहं ढाँप।
“वत्स, स्वामी तो गये उस ठौर,
लौटना होगा न जिससे और !”
“कौन या हमसे अधिक हा योक !
वे गये जिसके लिए उस लोक ?
हृदय, आशंका हुई क्या टीक,
होगई आशा अदोप अलोक !”

“मैं स्वयं पतिधातिनी हूँ हाय !
 जीव जीवन-मृत्यु का व्यवसाय !”
 “हा ! अमर भी मृत्यु-करणत जीव !
 मुक्त होकर भी अधीन अतीव !
 किन्तु साधारण न थी वह व्यक्ति ,
 अतुल थी जिसकी अलीकिक शक्ति ।
 जीर्ण तुमको जान सहसा तात !
 कर गया क्या काल यह अपघात ?
 तो धरा-धन हो भले ही ध्वस्त ,
 आर्य, हो जाओ तनिक आश्वस्त ।
 हम करेंगे काल से सग्राम ,
 है कहाँ ग्रग्रज हमारे राम ?”
 “है कहाँ वे सजल धन-सम श्याम ?”
 “वन न था हा ! किन्तु वह था धाम ?
 “वन गये वे अनुज-सीता-युक्त !”
 “वन गये ?” बोले भरत भययुक्त ।
 “तो संभालेगा हमे अब कौन ?
 यो अनाश्रित रह सका कब कौन ?”
 “आर्य का श्रीदास्य यह अवलोक ,
 सहमन्सा मेरा गया पितृ -शोक !”

"अनुज, ठहरो, मैं लगा दूँ होड़ ,
 रह सकैं यदि आर्य हमको छोड़ ।
 जार्य वे इस गेह ही से रुठ ,
 यह असम्भव, भूठ निश्चय भूठ ।
 हंस रही यह मन्यरा क्यों धूर ?
 री अभागिन ! दूर हो तू दूर ।
 भेद है इसमे निहित कुछ गूढ़ ,
 माँ वहो, मैं हो रहा हूँ भूढ़ ।"
 "वत्स, मेरा भी इसीमे जार,—
 जो किया, कर लूँ उसे स्वीकार ।
 साक्षि हो अनपेक्ष्य मेरे अर्थ ,
 सत्य कर दे सर्व सहन-समर्थ ।
 तो मुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,—
 प्रभु गये सुर-धाम, वन को राम ।
 माँग मैंने हीं लिया कुल-वेतु ,
 राजसिंहासन तुम्हारे हेतु ।"

"हा हतोस्मि !" हुए भरत हतवीव ,
 हूँ ! कहा शत्रुघ्न ने सक्रोव ।

ओठ काटा और पटका पैर,
 किन्तु लेता वीर किससे वैर ?
 केकयी चिल्हा उठी सोनमाद—
 “तव करें मेरा महा अपवाद ;
 किन्तु उठ गो भरत, मेरा प्यार ,
 चाहता है एक तेरा प्यार ।
 राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल ,
 मैं नरक भोगुं भले चिरकाल ।
 दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप ,
 दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप ।”
 “दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
 पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
 पौर नरकानल चिरन्तन चण्ड ,
 किन्तु वह तो है यहाँ हिम-खण्ड ।
 चण्ड ! सुनकर ही जिसे, सातक ,
 चुभ उठें सौ विच्छुओं के ढका ।
 दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?
 है तुपानल तो कमत-दल-तल्प ?
 जी, द्विरसने ! हम सभीको मार ,
 बग्धिन तेरा उचित न्याय-विचार ।

मृत्यु ? उसमें तो सहज ही मुक्ति ,
 भोग तू निज भावना की भुक्ति ।
 धन्य तेरा क्षुधित पुन - स्नेह ,
 या गया जो भूनकर पति - देह ।
 ग्रास करके अब मुझे हो तृप्ति ,
 और नाचे निज दुराशय - दृप्ति ।”
 “चुप अरे चुप, केकयी का स्नेह
 जान पाया तू न निस्सन्देह ।
 पर वही यह वत्स, तुझमे व्याप्ति ,
 छोड़ता है राज - पद भी प्राप्ति ।
 सब करें मेरा महा अपवाद ,
 किन्तु तू तो न कर हाथ ! प्रमाद ।
 हो गये थे देव जीवन्मुक्त ,
 उचित या जाना न अृण-सयुक्त ।
 ले लिए इस हेतु वर युग लभ्य ,
 उचित मानेंगे इसे सब सभ्य ।
 ‘यह लिया’ वस है यही सब शत्य ,
 किन्तु मेरा भी यही वात्सत्य ।”

✓ | “सब वचाती हैं सुतो के गान ,
 किन्तु देती हैं डिठोना मात्र ।

था न विस फल का तुझे अधिकार ?
 सुत न था मैं एक, हम ये चार ।
 राज सुख है बलि पुरुष का भोग,
 मूल्य जिसका प्राण का विनियोग ।
 स्वाधिनी तू कर सकेगी त्याग ?
 राज्य मे घर से लगी हा आग ।
 स्वप्न जिसका देखते हैं लोग,
 जो तजे लोकार्थं निद्रा - योग ।
 विन्तु करके, दूसरे का होम,
 पान करना चाहती तू सोम ।
 हाय ! ऐसी तो न यी यह बुद्धि,
 क्या हुई तेरे हृदय की शुद्धि ?
 ओग से करते हुए छल पाप,
 हम छले जाते प्रथम ही आप ।
 सूर्यकुल मे यह बलक बठोर !
 निरख तो तू तनिक नभ की ओर ।
 देख तेरी उम्र यह अनरीति,
 खस पड़े नक्षन ये न सभीति ।
 भरत-जीवन का सभी उत्साह,
 हो गया ठडा यहाँ तक आह ।

ये गगन के चन्द्रमणि-मय हार ,
 जान पड़ते हैं ज्वलित आगार !
 कौन समझेगा भरत का भाव—
 जब करे माँ आप यो प्रस्ताव !
 री, हुआ तुम्हारो न कुछ सकोच ?
 तू बनी जननी कि हननी, सोच !
 इष्ट तुम्हसे दृप्त - शासक - नीति ,
 और मुझको लोक - सेवा - प्रीति !
 बैन होता योग्य जिसका जात ,
 जड़भरत - जननो वही विस्तात !
 व्यर्थ आशा, व्यर्थ यह ससार !”
 रो दिया, हो मौन राजकुमार !
 ये भरे धन - से सड़े शशुन्न ,
 वरस अब मानो पड़े शशुन्न,—
 “तुम यहाँ थे हाय ! सोदरवर्य ,
 और यह होता रहा, आश्चर्य !
 वे तुम्हारे भुज - भुजंग विशाल ,
 क्या यहाँ कोलित हुए उस काल !
 राज्य को यदि हम बना लें भोग ,
 तो बनेगा वह प्रजा का रोग !

फिर कहूँ मैं क्यों न उठकर ओह !
 आज मेरा धर्म राजद्रोह !
 विजय मे बल और गौरव - मिठि,
 क्षत्रियों के धर्म - धन की वृद्धि ।
 राज्य मे दायित्व का ही भार,
 सब प्रजा का वह व्यवस्थागार ।
 वह प्रलोभन हो किसीके हेतु,
 तो उचित है ब्रान्ति का ही केतु ।
 दूर हो ममता, विपमता, मोह,
 ग्राज मेरा धर्म राजद्रोह ।
 त्याग से भी कठिन जिसकी प्राप्ति,
 स्वार्थ की यदि हो उसी मे व्याप्ति,
 छोड़ दूँ तो क्यों न मैं भी छोह ?
 आज मेरा धर्म राजद्रोह ।
 दो अभीप्सित दण्ड मुझको अम्ब,
 न्याय ही शशुद्ध का अवलम्ब,
 मैं तुम्हारा राज्य - शासन - भार,
 कर नहीं सकता यथा स्वीकार ।
 मानते थे सब जिसे निज शक्ति,
 वन गई अब राजभक्ति विरक्ति ।

हा ! अराजक भाव, जो था पाप ,
 कर दिया है पुण्य तुमने आप ।
 राज-पद ही क्यों न अब हट जाय ?
 लोभ-मद का मूल ही कट जाय ?
 कर सके कोई न दर्प न दम्भ ,
 सब जगत में हो नया आरम्भ ।
 विगत हो नर-पति, रहे नर मान ,
 और जो जिस कार्य के हो पाव—
 वे रहे उसपर समान नियुक्त ,
 सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त ।”
 “अनुज, उस राजत्व का हो अन्त ,
 हन्त ! जिसपर केवयी के दन्त ।
 किन्तु राजे रामराज्य नितान्त—
 विश्व के विद्रोह करके गान्त ।
 ‘रघु-भगीरथ-सगर-राज्य-किरीट ,
 केकयी का सुत भरत में ढीट—
 |यदि छुऊँ तो पाप-कर गल जाय ,
 |या वही अनुताप से जल जाय ।
 तात, राज्य नहीं किसीका वित्त ,
 वह उन्हींके सौख्य-शान्ति-निमित्त—

स्वयलि देते हैं उसे जो पात्र ,
नियत शासक लोक-सेवक मात्र !”

“आर्य, छाती फट रही है हाय ।
राज्य भी अब तो बना व्यवसाय ।
हम उसे लें वेचकर भी धर्म ,
अतुल कुल में आज ऐसा कर्म ।
भ्रातृ-निष्कासन, पिता का धात ,
हो चुके दो दो जहाँ उत्पात ,
और दो हो—मातृवध, गृहदाह !
वस यही इस चित्त की अब चाह !
पूर्ण हो दुरदृष्ट तेरो तुष्टि !”
बीर ने मारी हृदय पर मुष्टि ।
उठ भरत ने धर लिया भट हाथ ,
श्रीर वे बोले व्यथा के साथ—
“हाय ! मारोगे किसे हे तात ,
मृत्यु निष्कृति हो जिसे हे तात ?
छोड दो इसको इसी पर बीर ,
आर्य-जननी-ओर आओ धीर !”

युगल कण्ठो से निकल अविलम्ब
 प्रजिर मे गूंजी गिरा—“हा अम्ब !”
 शोक ने ली अफर आज डकार—
 वत्स हम्बा कर उठे डिडकार !
 सहन कर मानो व्यथा की चोट ,
 हृदय के टुकडे उडे सस्फोट—
 “तुम कहाँ हो अम्ब, दीना अम्ब !
 पति - विहीना, पुत्र - हीना अम्ब !
 भरत—अपराधी भरत—है प्राप्त ,
 दो उसे आदेश अपना आप्त !
 आज माँ, मुझसा अधम है कौन ?
 मुहें न देखो, पर न हो तुम मौन !
 प्राप्त है यह राज्यहारी चोर ,
 दूर से पड़यन्त्रकारी घोर !
 म्रागया मैं—गृहकलह का मूल ,
 दण्ड दो, पर दो पदो की धूल !”

“भूठ यह सब भूठ, तू निष्पाप ,
 साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप !

भरत मे अभिसन्धि का हो गन्ध ,
 तो मुझे निज राम की सौगन्ध ।
 केकयी, सुन लो वहन यह नाद ,
 ओह ! कितना हर्ष और विपाद !”
 पूर्ण महिपी का हुआ उत्सग ,
 जा गिरा शवरीशरातं - कुरग ।
 “वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अरु ,
 भानुकुल के निष्कलक मयक ?
 मिल गया मेरा मुझे तू राम ,
 तू वही है, भिन्न केवल नाम ।
 एक सुहृदय, और एक सुगात्र ,
 एक सोने के बने दो पात्र ।
 अग्रजानुज मात्र का है भेद ,
 पुत्र मेरे, कर न मन में खेद ।
 केकयी ने कर भरत का मोह ,
 क्या किया ऐसा बड़ा विद्वोह ?
 भर गई फिर आज मेरी गोद ,
 आ, मुझे दे राम का - सा मोद ।
 निन्तु बेटा, होगई कुछ देर ,
 सो गये हैं देव ये मुहं केर !

हो गई है हृदय की गति भग्न ,
 तदपि अब भी स्नेह में हैं मग्न ।
 देख लो हे नाथ, लो परितोप ,
 जननियो के जात हैं निर्दोष ।”
 नाव में नृप किन्तु पाँव पसार ,
 सुप्त थे भव-सिन्धु के पर-पार ।

“हा पिता, यो हो रहे हो सुप्त
 क्या हुई वह चेतना चिरलुप ?
 जिस अभागे के लिए यह काण्ड ,
 आ गया वह भर्त्सना का भाण्ड ।
 शास्ति दो, पाओ अहो । आरोग्य ,
 मैं नहीं हूँ यो अभापण-योग्य ।
 त्याज्य भी यह नीच हे नरराज ,
 हो न अन्तिम वचन-वचित आज ।”
 “राज्य तुमको दे गरे नरराज ,
 सुत, जलाजलि दो उन्हे तुम आज ।
 दे तुम्हे क्या वत्स, मेरा प्यार ?
 लो तुम्ही अन्त्येष्टि का अधिकार ।

राज्य—”“हा ! वह राज्य बनकर काल,
 भरत के पीछे पड़ा विकराल ।
 यह अराजक उम्र आज नितान्त ,
 प्राण लेकर भी न होगा शान्त ।”
 “वत्स, धीरे, कठिनता के साथ ,
 सो सके हैं, छटपटाकर नाथ ।
 हो न जावे शान्ति उनकी भग ,
 धर्म पालो धीरता के सग ।
 सगिनी इस देह की मैं नित्य ,
 साक्षि है ध्रुव, धरणि, अनिलादित्य ।
 मुत, तुम्हारे भाव ये अविभक्त ,
 मैं स्वय उनपर करूँगी व्यक्त ।”
 “हाय ! मत मारो मुझे इस भाँति ,
 माँ, जियो, मैं जो सकूँ जिस भाँति ।
 मैं सहन के अर्थ ही, मन-मार ,
 वहन करता हूँ स्वजीवन-भार ।
 मैं जियूँ लोकापवाद - निमित्त ,
 तब न होगा तनिक प्रायशिच्त ?
 तुम सभी त्यागो मुझे यदि हाय !
 तो मरूँ मैं भी न क्यो निरुपाय ?

आर्यं को तो मुहं दिखाने योग्य ,
 रथ मुझे औ भाग्य के फल भोग्य ।”
 'शोक से अति आर्त, अनुज समेत ,
 'भरत यो कह हो गये हतचेत ।
 लोटता हो ज्यो हृदय पर सौंप ,
 सभय कौशल्या, सुभित्रा कौंप—
 हाय कर, करने लगी उपचार—
 व्यजन, सिंचन, परस और पुकार ।
 आतृ युग संभले नयन निज खोल ,
 पर सके मुहं से न वे कुछ बोल ।
 देख सुत-हठ और चंदा-अरिष्ट ,
 वह न माँएँ भी सकी निज इष्ट ।
 आ गये तव तक तपोव्रतनिष्ठ ,
 राजयुल के गुह वरिष्ठ वसिष्ठ ।
 प्राप्त कर उनके पदो की ओट ,
 'रो पड़े युग वन्धु उनमे लोट—
 “वया हुआ गुरुदेव, यह अनिवार्य ?”
 “वत्स, अनुपम लोक-शिक्षण-कार्य ।
 त्याग का संचय, प्रणय का पर्व ,
 सफल मेरा सूर्यकुलगुरु-गर्व !”

“किन्तु मुझपर आज सागी सृष्टि,
 कर रही मानो घृणा की वृष्टि।
 देव, देखूँ मैं किधर, किस भाँति?”
 “भरत, तुम आकुल न हो इस भाँति।
 वत्स, देखो तुम पिता की ओर,
 सत्य भी शव-सा अकम्प कठोर।
 और उनका प्रेम-ओघ अभझ,
 वे स्वयं जिसमें हुए चिरमझ।
 और देखो आतृवर की ओर,
 त्याग का जिसके न ओर, न छोर।
 अतुल जिसकी पुण्य पितर-प्रीति—
 स्वकुल-मर्यादा, विनय, नय नीति।
 और उम अग्रज-वधु को ओर,
 वत्स, देखो तुम निहार—निहोर।
 हाँ, जिसे वे गहन-वर्णक शूल,
 बन गये गृह-वाटिका के फूल।
 और देखो उस अनुज की ओर,
 आह! वह लाधमण्य कैसा घोर।
 वह विकट व्रत और वह दृढ़भक्ति,
 एक मे सबकी अटल अनुरक्ति।

और देखो इस अनुज की ओर ,
 हो रहा जो शोक - मग्न विभोर ।
 आज जो सबसे अधिक उद्धान्त ,
 सुमन - सम हिमवाष्प भारकान्त ।
 वत्स, देखो जननियो की ओर ,
 आज जिनको भोग-निशि का भोर ॥”
 “हाय भगवन् । क्यो हमारा नाम ?
 अब हमें इस लोक में क्या काम ?
 भूमि पर हम आज केवल भार ,
 क्यो सहे ससार हाहाकार ?
 क्यो अनाथो की यहाँ हो भीड ?
 जीव-खग उड जाय अब निज नीड ॥”
 “देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य ,
 भाव भव में कौन वैसा भव्य ?
 धन्य वह अनुराग निर्गंत - राग ,
 और शुचिता का अपूर्व सुहाग ।
 अप्रिमय है अब तुम्हारा नाम ,
 'दग्ध हो जिसमें स्वय सब 'काम ।
 सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ
 'आयु भर स्त्रामि - हिमरण है श्रेष्ठ ।

तुम जियो अपना वही व्रत पाल,
 धर्म को बल-वृद्धि हो चिरकाल।
 सहनकर जीना कठिन है देवि,
 सहज मरना एक दिन है देवि !
 भरत, देसो आप अपनी ओर,
 निज हृदय - सागर गभीर हिलोर।
 पूर्ण हैं अगणित वहाँ गुण-रत्न,
 अमर भी जिनके लिए कृतयत्न।
 भरत - भावामृत पियें जन जाग,
 मोह - विष या केक्यी का भाग।
 वत्स, मेरो ओर देसो, ओह !
 मैं सगदगद हूँ, यदपि निर्मोह।
 रो रहे हो तुम, परन्तु विनीत,
 गा रहे हैं सुर तुम्हारे गीत।
 नास अपने आप हो यह राज्य,
 कर दिया तृण-तुल्य तुमने त्याज्य।
 मति यहाँ शब्दन, मेरो मौन,
 तुम कि लक्ष्मण, अधिक सुहनी बौन ?
 अब उठो हे - वत्स, धीरज धार,
 वैठते हैं - वीर - क्या थके - हार ?

शशु-यर सम तुम सहो यह शोक ,
 सतत कर्मक्षेत्र है नरलोक ।
 कर पिता का मृत्युकृत्य अपत्य ,
 लो क्रमागत गोप - जीवन - सत्य ।
 मरण है अवकाश, जीवन कार्य ,
 कह रहा है आप में आचार्य ।
 व्याप हैं तुममे पिता के प्राण ,
 शोक छोड़ो शूर पाओ आण ।
 हम रुकें वयो, चल रही है साँस ,
 नियति न विगड़े, दे नियति भी आँस ।
 विन्न तो हैं मार्ग के कुश-काँस ,
 फौम न पावे इस हृदय में फौस ।
 तात, जीवनगीत सुनकर काल
 नाचता है आप, देकर ताल ।
 सुगति होतो है तभी मह प्राप्त ,
 प्रलय में भी लय रहे, निज व्याप ।
 उठ खड़े हो निज पदों पर आज ,
 धीर्य धारें स्वजन और समाज ।
 वीर देखो, उस प्रजा की ओर ,
 चाहती है जो कृपा की कोर ।"

सान्त्वना मे शोक थी वह रात ,
 कट चली, होने लगा फिर प्रात ।
 दूर घोला ताम्रचूड गभीर—
 'कर भी है काल निर्झरनीर ।'
 अरण-पूर्व उतार तारक हार ,
 मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार ,
 प्रवृत्ति - रजन - हीन दीन, अजस्र ,
 प्रवृत्ति विधवा थी भरे हिम-अस्र ।

आज नरपति का महास्तकार ,
 उमडने दो लोक - पारावार ।
 है महायात्रा यही, इस हेतु ;
 फहरने दो आज सी सी केतु ।
 घहरने दो सधन दुन्दुभि - घोर ,
 सूचना हो जाय चारो ओर—
 सुवृत्तियो के जन्म मे भव-भुक्ति ,
 और उनकी मृत्यु मे शुभ मुक्ति ।
 अद्व, गज, रथ, हो सुसज्जित सर्व ।
 आज है सुर-धाम-यात्रा-पर्व ।

सम्मिलित हो स्वजन, सैन्य, समाज ,
 वस, यही अन्तिम विदा है आज ।
 सूत, मागध, बन्दि, आदि अभीत ,
 गा उठ जीवन - विजय के गीत—
 तुच्छ कर नृप मृत्यु पक्ष समक्ष ,
 पा गये है आज अपना लक्ष ।

राजगृह की बहिं बाहर जोड ,
 कर उठे द्विज होम—आहुति छोड ।
 कुल - पुरोहित और कुल - आचार्य ,
 भरत युत करने लगे सब कार्य ।
 शव बना था शिव-समाधि-समान ,
 था शिवालय - तुल्य शिविका यान ।
 और जिनसे था वहन - सम्बन्ध ,
 थे भरत के भव्य - भद्र - स्कन्ध ।
 वज रहे थे भाँझ, भालर, शख ,
 पा गया जयघोष अगणित पख ।
 भाव - गदगद हो रहे थे लोग ,
 गा रहे थे, रो रहे थे लोग ।

बरसता था नेत्र - नीर नितान्त ,
 मंग-रज-करण थे प्रथम ही शान्त ।
 पाँवडो पर बीच मे शब - यान ,
 उभय ओर मनुष्य - पक्कि महान ।
 आज पैदल थे सभी सत्पान ,
 वाहनो पर नृप - समादर मान ।
 शेष - दर्शन कर सभक्षि, सयत्न ,
 जन लुटाते थे वसन, धन, रत्न ।
 आ गया सब सध सरयू - तीर ,
 करुण - गदगद था सहज ही नीर ।
 आप सरिता बीच - वेणी खोल
 कर रही थी कल-विलाप विलोल ।
 अगरु - चन्दन की चिन्ता थी सेज ,
 राजशब था सुप्त सयत तेज ।
 सरस कर भूतल, बरस एकान्त ,
 क्षितिज पर भानो शरद-धन शान्त ।
 फिर प्रदक्षिण, प्रणति जय जयकार ,
 सामगान - समेत शुचि - सस्कार ।
 बरसता था धृत तथा कर्पूर ,
 सूर्य पर था एक लघु धन द्वार ।

जागकर ज्वाला उठी तत्काल ,
 विम्ब पानी मे पड़ा सुविशाल ।
 किर प्रदक्षिण कर तथा कर जोड
 रो उठे यो भरत धीरज छोड—
 “तात ! यह क्या देखता हूँ आज ?
 जा रहे हो तुम कहाँ नरराज !
 देव, ठहरो, हो न अन्तर्धान ,
 चाहिए मुझको न वे वरदान ।
 इस अधम की बाट तो कुछ देर ,
 देखते तुम काल - कारण हेर ।
 बन गये है आर्य, तुम परलोक ,
 कौन समझे आज मेरा शोक ?
 स्वर्ग क्या, अपवर्ग पाश्चो तात ,
 पर बता जाओ मुझे यह बात—
 राज्य - सग तुम्हे कहाँ से हाय !
 दे सकूँगा आर्य को अनुपाय ?
 आज तुम नरराज, प्रश्नातीत ,
 ये प्रजाजन ही कहे, नयनोत—
 बन किसीका जो हरे क्रम - भोग्य ,
 दण्ड क्या उसके लिए है योग्य ?

आह ! मेरी जय न बोलो हार ,
 इस चिता ही मे बहुत अगार !
 था तुम्हे अभियेक जिनका मान्य ,
 हैं कहाँ वे धीर - वीर - वदान्य ?
 वन चलो सब पच मेरे साथ ,
 हैं वही सबके प्रकृत नरनाथ !
 राज्य पालैं राम जनकप्राय ,
 राम का प्रतिनिधि भरत वन जाय ।
 निज प्रजा-परिवार - पालन - भार ;
 यदि न आर्य करें स्वयं स्वीकार ।
 तो चुनो तुम अन्य निज नरपाल ,
 जो किसी माँ का जना हो लाल ।
 व्यर्थ हो यदि भरत का उद्योग ,
 तो करें इतनी कृपा सब लोग—
 इस, पिता ही की चिता के पास ,
 { मुक्त अगति को भी मिले चिरवास !"

साथ ही आनन्द और विपाद ,
 'जयभरत', 'जयराम' जय जय नाद !

लोटते थे पर भरत गति-हीन ,
 पितृ-चिता के पादतल मे लीन ।
 दे रहे थे धीर्य लोग सराह ,
 विकल थे सब किन्तु आप कराह ।
 "भरत !" बोले गुरु—"भरत, हो शान्त ,
 जनकवर के जातवर, कुलवान्त !
 कर चुके हो मृतजनक-सस्कार ,
 हत - जननियो का करो उपचार ।
 भेज यो पितृवन उन्हे सस्नेह ,
 पुत्र, इनको ले चलो अब गेह ।"

बोले किर मुनि यो चिता की ओर हाथ कर
 "देखो सब लोग, अहा ! क्या हो आधिपत्य है ?
 त्याग दिया आप अजनन्दन ने एक साथ ,
 पुत्र-हेतु प्राण, सत्य-कारण अपत्य है !
 पा लिया है सत्य-शिव-सुन्दर-सा पूर्ण लक्ष
 इष्ट हम सबको इसीका आनुगत्य है !
 सत्य है न्वय ही शिव, राम सत्य-सुन्दर हैं ,
 सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है ।"

कण्ठ कण्ठ गा उठा ,
 शून्य शून्य छा उठा—
 सत्य काम सत्य है ,
 !

उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को ,
 प्रणयप्राणा को और कान्तकाया को .
 यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी
 योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे
 सीता माता थी आज नई धज धारे
 अंकुर - हितकर थे कलश-पयोधर पावन
 जन-मातृ-गर्वमय कुशल बदन भव-भावन
 पहने थी दिव्य दुकूल अहा ! वे ऐसे
 उत्पन्न हुआ हो देह-सग ही जैसे
 कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से
 थे पत्र - पुङ्ग में अलग प्रसून प्रकट - से ।
 कन्धे ढककर कच छहर रहे थे उनके ,
 रक्षक तक्षक - से लहर रहे थे उनके ।
 मुख धर्म-विन्दु-मय ओस-भरा अन्वुज-सा ,
 पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा
 पाकर विशाल कच - भार एड़ियाँ धंसती ,
 तब नखज्योति-मिप, मृदुल औंगुलियाँ हँसती ।

पर यग उठने मे भार उन्हीयर पडता ,
 तब अरुण एडियो से सुहास-सा झडता ।
 क्षोणो पर जो निज छाप छोडते चलते ,
 पद - पद्मो मे मजीर - मराल मचलते ।
 रुकने - भुकने मे ललित लक लच जाती ,
 पर अपनी छवि मे छिपी आप वच जाती ।
 तनु गौर केनको - कुसुम - कली का गाभा ,
 थो अग - सुरभि के सग तरगित आभा ।
 भीरो से भूषित कल्प - लता - सी फूली ,
 गातो थी गुन गुन गान भान - सा भूली :—

“निज सौध सदन मे उटज पिता ने छाया ,
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

सम्राट स्वय प्राणेश, सचिव देवर हैं ,
 देते आकर आशीष हमे मुनिवर है ।
 घत तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असख्य आकर हैं ,
 पानी पोते मृग - सिंह एक तट पर हैं ।
 सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया ,
 मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया ।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा ,
 पुख्ताकृति गुज्जित कुज्ज धना है मेरा ।
 जल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा ,
 गढ़ चिंचूट हृष्ट-दिव्य बना है मेरा ।
 ' प्रहरी निर्भंर, परिखा प्रवाह की काया
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया

औरो के हाथो यहाँ नहीं पलती हैं ,
 अपने पैरो पर खड़ी आप चलती हैं ।
 श्रमवारिविन्दु फल स्वास्यशुक्ति फलती हैं ,
 अपने अचल से व्यजन आप भलती हैं ।
 ' तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया ,
 ' मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

जिनसे ये प्रणयी प्राण नाण पाते हैं ,
 जी भरकर उनको देख जुडा जाते हैं ।
 जब देव कि देवर विचर-विचर आते हैं ,
 तब नित्य नये दो एक द्रव्य लाते हैं ।
 ' ' उनका चण्णन ही बना विनोद सुवाया ,
 ' ' मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

आओ इत्तमि, निज चन्द्रकला दिखलाओ ,
 कुद्ध मुझमे भीयो और युझे सियलायो ।
 गाया पिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ ,
 स्वर खीन तनिव या उसे धुमाते जाओ ।

शुक पड़ा —मधुर पन प्रवर्म तुम्हीन राया ,
 मेरा कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

अपि गजहसि तू तरम तरम वयो रोती ,
 तू शुक्ति-वचिना वही भैयिली होती ,
 तो द्यामल ननु ते श्रमज-विन्दुमय भोती ,
 निज व्यजन-पक्ष से तू औंकोर सुध जोती ,—

जिनपर मानम ने पद्म-स्पृष्ट मुहं धाया ,
 मेरे कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

ओ निभर, भर भर नाद मुनाकर झड तूदे,
 पथ के गोडो ने उलझ-मुलझ, वट-प्रह तू ।
 ओ उत्तरीय, उट, मोद-पयोद, धुमट तू ,
 हमपर गिर्गिर-गदगद भाय, सदेव उमट तू ।

जीवन वो तूने गोड बनाया, गाया ,
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

ओ भोली कोल - किरात - भिल वालाओ ,
 मैं आप तुम्हारे यहाँ आगई, आओ ।
 मुझको कुछ करने योग्य वाम बतलाओ ,
 दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ ।
 लो, मेरा नागर भाव भेट जो लाया ,
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

सब और लाभ ही लाभ वोध-विनिमय मे ,
 उत्साह मुझे है विविध वृत्त - सचय मे ।
 तुम अद्वैत नम्म क्यो रहो अशेष समय मे ,
 आओ, हम काते - दुनें गान की लय मे ।
 निकले पूज्नो का रग, ढग मे ताया ,
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।”

ये समाधिस्थ - से राम अनाहत सुनते ,
 स्वर पत्र पत्र पर प्रेम - जाल ये बुनते ।
 वितने भीठे हैं, मरे बीन के भाले ,
 तरु भूम रहे ये हरे - भरे मतवाले ।
 “गाओ मैयिलि, स्वच्छन्द, राम के रहते ,
 सुन ले कोई भी आज मुझे यह कहते—

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ ,
 कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ ।
 गाओ यिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ ,
 स्वर खीच तनिक यो उसे धुमाते जाओ ।

शुक पढो,—मधुरफल प्रथम तुम्हीने खाया ,
 मेरी कुटिया मेरी राज-भवन मन भाया ।

अयि राजहसि तू तरस तरम क्यो रोती ,
 तू शुक्ति-वचिता कही मैथिली होती ,
 तो श्यामल तनु के श्वर-विन्दुमय मोती ,
 निज व्यजन-पक्ष से तू आँकोर सुध खोती ,—

जिनपर मानस ने पद्म-रूप मुहं वाया ,
 मेरी कुटिया मेरी राज-भवन मन भाया ।

ओ निर्भर, भर भर नाद सुनाकर भड तूने ,
 पथ के रोडो से उलझ-सुलझ, बढ़-गड तू ।
 ओ उत्तरीय, उड, मोद-पयोद, घुमड तू ,
 हमपर गिरि-गद्गद भाव, सदैव उमड तू ।

जीवन को तूने गीत बनाया, गाया ,
 मेरी कुटिया मेरी राज-भवन मन भाया ।

ओ भोली कोल - किरात - भिल वालाओ ,
 मैं आप तुम्हारे यहाँ आगई, आओ ।
 मुझको कुछ करने योग्य बाम बतलाओ ,
 दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ ।
 लो, मेरा नागर भाव भेट जो लाया ,
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ।

सब और लाभ ही लाभ वोध-विनिमय मे ,
 उत्साह मुझे है विविध वृत्त - सचय मे ।
 तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय मे ,
 आओ, हम कातें - बुनें गान को लय मे ।
 निकले फूलों का रंग, ढग से ताया ,
 मेरी कुटिया मेरा राज-भवन मन भाया ॥

थे समाधिस्थ - से राम अनाहत सुनते ,
 स्वर पत्र पत्र पर ग्रेम - जाल थे बुनते ।
 कितने मोठे हैं, मरे बीन के भाले ,
 तरु भूम रहे थे हरे - भरे मतवाले ।
 "गाओ मैथिलि, स्वच्छन्द, राम के रहते ,
 सुन ले कोई भी आज मुझे यह कहते —

निश्चिन्त रहे, जो करे भरोसा मेरा ,
 वम, मिले प्रेम का मुझे परोसा मेरा ।
 आनन्द हमारे ही अधीन रहता है ,
 रव भी विपाद नरलोक व्यर्थ सहता है ।
 हरके अपना कर्तव्य रहो सन्तोषी ,
 केर सफल हो कि तुम विफल, न होगे दोषी ।
 नेश्चिन्त नारियाँ आत्म - समर्पण करके ,
 लीकृति मे ही कृतकृत्य भाव हैं नर के ।
 औरव क्या है, जन-भार वहन करना ही ,
 मुख क्या है, बढ़कर दुख सहन करना ही ।"
 गलिकाएँ खिलने लगी, फूल फिर पूले ,
 खग-मृग भी चरना छोड सभी सुध भूले ।

सन्नाटे मे था एक यही रव द्याया—

“मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया !
 देवर के द्वार की अनी बनाकर टांकी ,
 मैंने अनुजा की एक मूर्ति है औंकी ।
 औंसू नयनो में, हँसी बदन पर बाँकी ,
 काटे समेटती, फूल छोटती झाँकी !

निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया !
 मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।”

"हा ! छह रो, वस, विश्राम प्रिये, लो थोड़ा ,
 हे राजलक्ष्मि, तुमने न राम को छोड़ा ।
 श्रम करो, स्वेदजल स्वास्थ्य-मूल मे ढालो ,
 पर तुम यति का भी नियम स्वगति मे पालो ।
 तन्मय हो तुम-सा किसी कार्य मे बोई ,
 तुमने अपनी भी आज यहाँ सुध खोई ।
 हो जाना लता न आप लता - सलग्ना ,
 करतल तक तो तुम हुई नवल-दल-मग्ना ।
 ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको ।
 है मधुप ढूँढता यथा मनोज्ज कुमुम को ।
 वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा ,—
 मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा ॥"
 "तुम हँसो, नाथ, निज इन्द्रजाल के फल पर ,
 मर ये फल होगे प्रकट सत्य के बल पर ।
 उनमे विनोद, इनमे यथार्थता होगी ,
 मेरे श्रम फल के रहे सभी रम-भोगी ।
 तुम मायामय हो तदपि बडे भोले हो ,
 हँसने मे भी तो भूँठ नहीं बोले हो ।
 हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूँ मैं वन मे ,
 तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन मे ॥"

“आमोदिनि, तुमको बीन छिपा सकता है ?
 अन्तर को अन्तर अनायास तकता है ।
 बैठो है सीता सदा राम के भीतर,
 जैसे विद्युदव्युति घनश्याम के भीतर ।”

“अच्छा, मे पौधे कहो फलेगे कब लो ?
 हम और कही तो नही चलेंगे तब लो ?”
 “पौधे ? सीचो ही नही, उन्हे गोडो भी,
 ढालो को चाहो जिधर, उधर मोडो भी ।”
 “पुरुणो को तो वस राजनीति की बातें ।
 नृप मे, माली मे काट-छाँट की धातें ।
 प्राणेश्वर, उपवन नही विन्तु यह वन है,
 बढ़ते है विटपी जिधर चाहता मन है ।
 वन्धन ही का तो नाम नही जनपद है ?
 देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है ।
 इसको भी पुर मे लोग बाँध लेते हैं ।”
 “हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं ।”
 “पर इससे नद का नही, उन्हीका हित है,
 पर वन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है ?”

“मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूंगा ,
 हित उसका उससे अधिक कौन जानूंगा ?
 जितने प्रवाह है, वहें—अवश्य वहे वे ,
 निज मर्यादा मे किन्तु सर्दंव रहे वे ।
 केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी ,
 है औरो वी भी भार - धारिणी - भरणी ।
 जनपद के दृष्टन मुक्ति - हेतु हैं सबके ,
 यदि नियम न हो, उच्छ्वस सभी हो बदके ।
 उसको पुरुषो की काट - छाँट है खलती ,
 जो फूलो को चुन रग चुवाने चलती ।
 ताओगी कैसे उन्हे, बताओ यह तो ?
 कोमलता के उपमान ग्रन्तुल हैं वह तो ।
 इतनी निष्ठुरता, और उहीके ऊपर ,
 जो शूलो के प्रतिकूल भाव - से भू पर ।”
 “यह सग - दोप है, और क्या कहूँ तुमसे ,
 मैं क्षमा-प्रार्थिनी आज अवश्य कुसुम से ।
 पर जो उसका अनुराग, उसे स्थिर कर लूँ ,
 वह आप अचिर क्यो न उसे चिर कर लूँ ।”
 “वह राग-रग रच, लो सुहाग - अचल मे ,
 क्या कहना है, आ गई ठिकाने पल मे ।

“यामोदिनि, तुमको कोन छिपा सकता है ?
 अन्तर वो अन्तर यनायास तकता है ।
 यैठी है सीता तदा गम के भीतर,
 जैसे विद्युद्द्युति धनश्याम के भीतर ।”

“अच्छा, ये पौधे कहो कलेंगे क्या लौ ?
 हम और कही तो नहीं चलेंगे तब लौ ?”
 “पौधे ? सीतो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी,
 ढालो को चाहो जिधर, उधर मोड़ो भी ।”
 “पुरुणों को तो वस राजनीति की बातें !
 नृग में, माली में काट-छाँट की धातें ।
 प्राणेश्वर, उपवन नहीं बिन्नु यह बन है,
 बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है ।
 वन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है ?
 देखो कैसा स्वच्छुन्द यहाँ लघु नद है ।
 इसको भी पुर मे लोग बाँध लेते हैं ।”
 “हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं ।”
 “पर इससे नद का नहीं, उन्हीका हित है,
 पर वन्धन भी व्या स्वार्य-हेतु समुचित है ?”

“पर नद को ही, अवकाश कहाँ है इसका ?
 सोचो, जीवन हे श्लाघ्य स्वार्थमय किसका ?
 करते है जब उपकार किसीका हम कुछ,
 होता है तब सन्तोष हमे क्या कम कुछ ?
 ऐसा ही नद के लिए मानते है हम,
 अपना जैसा हो उसे जानते है हम।
 जल निष्फल या यदि तृपा न हममे होती,
 है वही उगाता अन्न, चुगाता मोती।
 निज हेतु वरसता नही व्योम से पानी,
 हम हो समष्टि के लिए व्यष्टि-वलिदानी !”

“तुम इसी भाव से भरे यहाँ आये हो ?
 यह धनश्याम - तनु धरे हरे, आये हो।
 तो वरसो, सरसौ, रहे न भूमि जली - सी !
 मैं पाप - पुङ्ग पर दूट पड़ू - विजली - सी !”

“हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया मैं,
 कुछ देने ही के लिए प्रिये, लाया मैं।
 निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
 सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

जब हम सोने को ठोक - पोठ गढ़ते हैं ,
तब मान, मूल्य, सौन्दर्य, सभो बढ़ते हैं ।
सोना मिट्टी मे मिला खान मे सोता ,
तो क्या इससे कृतकृत्य कभी वह होता ?”
“वह होना चाहे नहीं, किन्तु हम होते ,
है लोग उसीके लिए भीकते - रीते !”
“होकर भी स्वय सुवर्णमयी, ये वातें ,
पर वे सोने की नहीं, लोभ की घातें ।
हीं, तब ग्रनथ के बीज अर्थ बोता है ,
जब एक बर्ग में मुष्टि - बद्ध होता है ।
जो सथह करके त्याग नहीं करता है ,
वह दस्यु लोक धन लूट लूट घरता है ।
यो तो फिर कह दो—कही न कुछ भी होता ,
निहंन्ध भाव ही पड़ा शून्य मे सोता !”
“हम तुम तो होते कान्त !” “न थे कब कान्ते !
हैं और रहेगे नित्य विविधवृत्तान्ते !
हमको नेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा ,
आ— १ ८— द्वे ष— वी पी !”

“पर नद को हो, अवकाश कहाँ है इसका ?
 सोचो, जीवन है श्लाघ्य स्वार्यमय किसका ?
 करते हैं जब उपकार किसीका हम कुछ,
 होता है तब सन्तोष हमे क्या कम कुछ ?
 ऐसा ही नद के लिए मानते हैं हम,
 अपना जैसा हो उसे जानते हैं हम।
 जल निष्फल था यदि तृपा न हमसे होती,
 है वही उगाता अन्न, चुगाता मोती।
 निज हेतु वरसता नहीं व्योम से पानी,
 हम हो समष्टि के लिए व्यष्टि-वलिदानी।”

“तुम इसी भाव से भरे यहाँ आये हो ?
 यह धनश्याम - तनु धरे हरे, छाये हो।
 तो वरसो, सरसै, रहे न भूमि जली - सी।
 मैं पाप - पुङ्ग पर दूट पड़ूँ - विजली - सी।”

“हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया मैं,
 कुछ देने ही के लिए प्रिये, लाया मैं।
 निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
 सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया ,
 जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया ।
 सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया ,
 विश्वासी का विश्वास बचाने आया ।
 मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं ,
 जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं ।
 हो जायें अभय वे जिन्हे कि भय भासित है ,
 जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित है ।
 मैं आया, जिसमे बनो रहे मर्यादा ,
 बच जाय प्रलय से, मिटे न जीवन सादा ।
 सुख देने आया, दुख भेलने आया ,
 मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया ।
 मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया ,
 गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया ।
 मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बांटने आया ,
 जगदुपवन के भखाड छाँटने आया ।
 मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया ,
 हसो की मुक्का-मुक्कि चुगाने आया ।
 भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया ,
 नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया !

। सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ,
 इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।
 अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा ,
 अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा ।
 जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे ,
 वे भी भवमागर विना प्रयास तरेंगे ।
 पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे ,
 वे औरो को भी तार, पार उतरेंगे ।”
 “पर होगा यह उद्देश्य सिद्ध क्या बन मे ?
 सम्भव है चिन्तन - मनन मात्र निर्जन मे ।”
 “बन मे निज साधन सुलभ धर्म से होगा ,
 जब मन से होगा तब न कर्म से होगा ?
 वहु जन बन मे है बने कृक्ष - वानर - से ,
 मैं दूंगा अब आर्यत्व उन्हे निज कर से ।
 चल दण्डक बन मे शीघ्र निवास करूँगा ,
 निज तपोधनो के विन्न विशेष हरूँगा ।
 उच्चारित होती चले वेद की वाणी ,
 गूँजै गिरि - कानन - सिन्धु - पारकल्याणी ।
 अम्बर मे पावन होम - धूप धहरावे ,
 वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे

तत्त्वो वा चिन्तन करें स्वस्थ हो जानी ,
 निर्विघ्न ध्यान मे निरत रहे सब ध्यानी ।
 आहुतियाँ पडती रहे अप्ति मे क्रम से ,
 उत तपस्त्याग की विजय-बृद्धि हो हमसे ।
 |मुनियो को दक्षिण देश आज दुर्गम है ,
 वर्वंर कौणप - गण वहाँ उग्र यम - सम है ।
 वह भीतिक मद से मत यथेच्छाचारी ,
 मेट्टूंगा उसको कुर्गाति - कुमति मैं सारी ।"

"पर यह क्या, खग-मृग भीत भगे आते है ,
 मानो पीछे से व्याध लगे आते है ।
 |चर्चा भी युच्छो नहीं बुरो वी मानो ,
 साँपो की बातें जहाँ वही वे जानो ।
 अस्फुट कोलाहल भरित मर्मरित बन है ,
 वह पूलि - धूमरित उच्च गभीर गगन है ।
 देखो, यह मेरा नकुल देहली पर से ,
 बाहर को गति-विधि देख रहा है डर से ।
 लो, ये देवर आ रहे बाढ के जल - से ,
 पल पल मे उथले - भरे, अचल - चंचल से ।

होगी ऐसो वया वात, न जानें स्वामी,
भय न हो उन्हे, जो सदय पुण्य-पथ-गामो ।”

“भाभो, भय का उपचार चाप यह मेरा,
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा ।
कोटिकम - सम्मुख कौन टिकेगा इमके—
आई परास्तता कर्म भोग में जिसके ।
सुनता हूँ आये भरत यहाँ दल-वत्त से,
वन और गगन है विकल चमू-कलकल से ।
विनयी होकर भी करें न आज अनय वे ?
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वभावृत्तनय वे ;
पर कुशल है कि असमर्थे नहीं हैं हम भी,
जैसे को तैसे, एक बार हो यम भी ।
हे आर्य, आप गम्भीर हुए क्यों ऐसे—
निज रक्षा में भी तके उठा हो जैसे ?
आये होगे यदि भरत कुमति-वश वन में,
तो मैंने यह सकल्य किया है मन में—
उनको इस शर का लक्ष चुनूंगा क्षण में—
प्रतिषेध आपका भी न चुनूंगा रण में !”

“गृह-कलह शान्त हो, हाय ! कुशल हो कुल की,
 अक्षुण्णा अतुलता रहे सदैव अतुल की ।
 विग्रह के ग्रह का कोप न जानें अब क्यों ,
 आ बैठे देवर, राज्य छोड़ तुम जब यो ?”

“भद्रे, न भरत भी उसे छोड़ आये हों ,
 मातुथ्री से भी मुहें न मोड़ आये हों ।
 लक्ष्मण, लगता है यही मुझे हे भाई ,
 पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई ।”

“आशा अन्त-पुर-मध्यवासिनी कुलटा ,
 सीधे है आप, परन्तु जगत है उलटा ,
 जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं ,
 तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं ?”

“भाई, कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा ,
 पर मेरा ही विश्वास सत्य है सारा ।
 माता का चाहा किया राम ने आहा !
 तो भरत करेगे क्यों न पिता का चाहा ।”

“मानव-मन दुर्बल और सहज चलता है ,
 इस जगती-तल में लोभ अतीव प्रवल है !

देवत्व कठिन, दनुजत्व मुलभ है नर को ,
 नीचे से उठना सहज वहाँ ऊपर को ?”

“पर हम क्यों प्रावृत्त पुस्प आप को मानें ?
 निज पुरुषोत्तम की प्रवृत्ति वयो न पहचानें ?
 हम मुगनि छोड क्यों कुगति चिचारें जन की ?
 नीचे - ऊपर सर्वन तुल्य गति मन को ।”

“वम हार गया मैं आर्य आपके आगे ,
 तब भी तनु मे शन पुलक भाव ये जागे ।”

“देवर, मैं तो जी गई, मरी जाती थी ,
 विग्रह की दास्त्रण भूति हृषि आती थी ।
 अच्छा ले आये आर्यपुत्र, तुम इनको ,
 मैं तुम्हें छोड बव, कहाँ मानते किनको ?
 सन्तोष मुझे है आज यहाँ देवर ये ,
 हा । क्या जानें क्या न कर बैठते घर ये ।”

“पर मैं चिन्तित हूँ, सहज प्रेम के कारण ,
 हठपूर्वक मुझको भरत वरें यदि वारण ?
 वह देखो, वन के अन्तराल मे निकले ,
 मानो दो तारे क्षितिज-जाल से निकले ।
 वे भरत और शत्रुघ्न, हमी दो मानो ,
 किं आया हमको यहाँ प्रिये, तुम जानो ।”

कहते - कहते प्रभु उठे, बढ़े वे आगे ,
सीता - लक्ष्मण भी सग चले अनुरागे ।

देखी सीता ने स्वय साक्षिणी हो हो ,
प्रतिमाएँ सम्मुख एक एक दी दो दो !
रह गये युग्म श्वर्वेद्य आप ही आधे ,
जगती ने ये निज चार चिकित्सव साधे ।
दोनों आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे ,
दोनों से दोनों गये हृदय पर सीचे ।
सीता - चरणामृत बना नयन - जल उनका ,
इनका हृगम्बु अभिपेक सुनिर्मल उनका ।
"रोकन्ऱ रज मे लोटो न भरत, ओ भाँई ,
यह छाती ठड़ी करो सुमुख सुगदायी ।
मानस के मोती यो न विसेरो, आओ ,
उपहार - रूप यह हार मुझे पहनाओ ।"
"हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है ,
उर रहते उर्वी उसे तुम्हीने दी है ।
उस जड जननी का विकृत वचन तो पाला ,
तुमने इस जन की ओर न देखा - भाला ।"

“ओ निदंय, कर दे न यो निरुत्तर मुझको ,
 रे भाई, महना यही उचित क्या तुझको ?
 चिरकाल राम है भरत - भाव वा भूखा ,
 पर उसको तो कर्तव्य निला है इतना !”
 इतने मे कलकल हुआ वहाँ जय जय का ,
 गुरुजन सह पुरजन-पच-सचिंव-ममुदय का ।
 हय-नाज-रथादि निज नाद सुनाते आये ,
 खोये - से अपने प्राण सभीने पाये ।
 कभी ही विचित्रता चिनकूट ने पाई ,
 सम्पूर्ण अयोध्या जिसे खोजती आई ।
 बढ़कर प्रणाम कर बसिष्ठादि मुनियों को ,
 प्रभु ने अदर से लिया यही गुनियों को ।

“
 जिस पर पाले का एक पत्त - सा छाया ,
 हत जिसकी पक्ज-पक्कि, अचल-सी काया ।
 उस सरसी-सी, आभरणंरहित, सितवसना ,
 “सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड रसना ।
 “हा तात !” वहा चौत्कार समान उन्होंने ,
 “सीता सह लक्ष्मण लगे उसी कण रोने ।

उमडा भाँशो का हृदय हाय ! ज्यो फटकर ,—
 “चिर मौन हुए वे तात तुम्हीको रटकर ।”
 “जितने आगत हैं रहे क्यो न गत-धर्मा ,
 पर मैं उनके प्रति रहा कूर ही कर्मा ।”
 दी गुरु वसिष्ठ ने उन्हे सान्त्वना बढ़कर ,—
 “वे समुपस्थित सर्वत्र कीर्ति पर चढ़कर ।
 वे आप उक्खण ही नहीं हुए जीवन से ,
 उलटा भव को बरगये उक्खणी निज धन से ।
 वे चार चार दे गये एक के बदले ,
 तुम तक को यो तज गये टेक के बदले !
 वे हैं अशोच्य, हाँ स्मरण-योग्य हैं सबके ,
 अभिमान-योग्य, अनुकरण-योग्य हैं सबके ।”
 वोले गुरु से प्रभु साथु बदन, बद्वाजलि—
 “दे सकता हूँ क्या उन्हे अभी श्रद्धाजलि ?
 पितृ-देव गये हैं हाय ! तृपित ही सुरपुर !”
 भर आया उनका गला, हुआ आतुर उर ।
 फिर वोले वे—“क्या कर्हे और मैं कहिए ,
 गुरुदेव, आप ही तात-तुल्य अब रहिए !”
 “वह भार प्राप्त है मुझे प्रपूर्ण प्रथम ही ,
 हम जब जो उनके लिए करें, है कम ही ।”

“भगवन्, इस जन में भक्तिभाव अविचल है,
पर अर्पणार्थ वस पत्र-पुष्प - फल - जल है।”

“हा ! याद न आवे उन्हें तुम्हारे वन को ?”

प्रभु-जननी रोने लगी व्यया से मन की ।

“वे सब दुःखों से परे आज हैं देवी,
स्वर्गीय भाव से भरे आज हैं देवी ।

उनको न राम - वनवास देख दुख होगा,
अवलोक भरत का वही भाव सुख होगा ।”

गुरु - गिरा श्रवण कर हुए सभी गद्गद-से,
बोले तब राघव भरे स्नेह के नद - से -

“पूजा न देखकर देव भक्ति देखेंगे,
योड़े को भी वे सदय बहुत लेखेंगे ।”

कौसल्या को अब रहा न मान - परेखा,
पर कंकयी की ओर उन्होंने देखा ।

बोली वह अपना कण्ठ परिष्कृत करके,
प्रभु के कन्धे पर बलय - शून्य कर धरके -

। “है श्रद्धा पर ही श्राद्ध, न आडम्बर पर,
पर तुम्हें कमो क्या, करो, कहे जो गुरुवर ।”

यह कह मानो निज भार उतारा उसने,
लक्ष्मण - जननी की ओर निहारा उसने ।

कुछ कहा सुमित्रा ने न अशुमय मुख से ,
 सिर से अनुमति दी नेत्र पोछकर दुख से ।
 “जो आज्ञा” कह प्रभु धूम अनुज से बोले—
 “लेकर अपने कुछ चुने बनेचर भोले ,
 सबका स्वागत - सत्कार करो तुम तब ली ,
 मैं करूँ स्वयं करणीय कार्य सब जब ली ।”

यह कह सीता - सह नदी - तीर प्रभु आये ,
 श्रद्धा - समेत सद्वर्म समान सुहाये ।
 पीछे परिजन विश्वास - सहस्र थे उनके ,
 फल सम लक्ष्मण ने दिया आपको चुनके ।

पट मण्डप चारो ओर तने मनभाये ,
 जिनपर रसाल, मधु, निम्ब, जम्बु, बट आये ।
 मानो वहु कटि - पटि चित्रकूट ने पाये ,
 किंवा तूतन घन उसे धेर धिर आये ।
 आलान बने द्रुम - काण्ड गजो के जैसे ,
 गज - निराड बलय बन गये द्रुमो के वैसे ।
 ल्युत पत्र पीठ पर पडे, फुरहरी आई ,
 औडो ने ग्रीवा भोड हृषि दौडाई ।

नव उपनिवेश-सा वसा घड़ी भर ही मे ;
 समझा लोगों ने कि हैं सभी घर ही में
 लग गई हाट जिसमें न पड़े कुछ देना
 ले लें उसमें जो वस्तु जिन्हे हो लेना ।
 वहु कन्द-मूल-फल कोल-भील लाते थे,
 पहुंचाते थे सर्वत्र, प्रीति पाते थे-
 "वस, पत्र-पुष्प हम वन्यचरों की सेवा,
 महुवा मेवा है, वेर कलेवा, देवा !

‘

उस ओर पिता के भक्ति-भाव से भरके,
 अपने हाथों उपकरण इकट्ठे करके,
 प्रभु ने मुनियों के मध्य श्राद्ध-विधि साधी,
 ज्यों दण्ड चुकावे आप अवश अपराधी ।
 पाकर पुत्रों मे अटल प्रेम अधित्त-सा,
 पितुरात्मा का परितोष हुआ प्रकटित-सा ।
 हो गई होम की शिखा समुज्ज्वल दूनी,
 मन्दानिल में मिल खिली धूप की धूनी ।
 अपना आमत्रित अतिथि मानकर सबको,
 पहले परोस परितृप्त-दान कर, सबको,

प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन थो ,
सेवन करता है मन्द पवन उपवन ज्यो ।

[२]

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे ,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे ।
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे ,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे ?
उत्फुल्ल कर्दी - कुञ्ज वायु रह रहकर ,
करती थी सबको पुलक - पूर्ण मह महकर ।
वह चन्द्रलोक था, कहाँ चाँदनी वैसी ,
प्रभु बोले गिरा गभीर नीरनिधि जैसी ।
“हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना ।”
राव सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना ।
“हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु - तले अरण्य - बसेरा , .
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?

तनु तडप तडपकर तप्त तात ने त्यागा ,
 क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
 | हा । इसी अयश के हेतु जनन था मेरा ,
 | निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा ।
 अब कौन अभीप्सित और आयं, वह किसका ?
 ससार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका ।
 मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुहें फेरा ,
 हे आयं, वता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?”
 प्रभु ने भाई को पकड हृदय पर खीचा ,
 रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सीचा ।—
 | “उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
 जनकर जननी ही जान न पाई जिसको ?”

“यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को ।”
 चाँके सब सुनकर अटल केकयी - स्वर को ।
 सबने रानी की ओर अचानक देखा ,
 वैधव्य - तुपारावृता यथा विधु - लेखा ।
 बैठी थी अचल तथापि असख्यतरगा ,
 वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गगा—

हाँ, जनकर भी मैंने न भरत को जाना ,
 सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
 यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया ,
 अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।
 दुर्बलता वा ही चिह्न विदेय दायथ है ,
 पर, अवलाजन के लिए कौन - सा पथ है ?
 यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ ।
 ; तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ ।
 ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो ,
 पाक्षो यदि उसमें सार उसे तज छुन लते ।
 करके पहाड़ - सा पाप मैंन रह जाऊँ ?
 राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?”
 थी सनसन शशि - निशा ओस टपकाती ,
 रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती ।
 उल्का - सी रानी दिशा दीप करती थी ,
 सबमें भय - विस्मय और खेद भरती थी ।
 ; “क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी ,
 मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।
 जल पजर - गत अब अरे अधीर, अभागे ,
 वे ज्वलित भाव ये स्वयं तुझीमे जागे ।

पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन मे ?
 क्या शोप वचा था कुछ न और इस जन मे ?
 कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मान, क्या तेरा ?
 पर आज अन्य-मा हुआ वत्स भी मेरा ।
 शूके, मुझपर नैलोक्य भले ही शूके,
 जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
 छोने न मातृपद विन्तु भरत का मुझमे,
 रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
 कहते आते ये यही अभी नरदेही,
 'माता न कुमाता, पुन कुपुन भले ही ।'
 अब कहे सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,-
 'हैं पुत्र पुन ही, रहे कुमाता माता ।'
 वस मैंने इसका वाह्य-मात्र ही देखा,
 हृद हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा ।
 परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
 इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा ।
 युग युग तक चलती रहे कठोर वहानी—
 'रथुकुल मे भी थी एक अभागिन रानी ।'
 निज जन्म जन्म मे सुने जीव यह मेरा—
 'धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।'-

“सौ बार धन्य वह एक लाल की भाई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।”
पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्हाई—
“सौ बार धन्य वह एक लाल को भाई।”

“हा ! लाल ? उसे भी आज गमाया भीने,
विकराल बुयश ही यहाँ कमाया भीने।
निज स्वर्ग उसीपर वार दिया था भीने,
हर तुम तब से अधिकार लिया था भीने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शक्ति सबसे धृत हरिण-नुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अगार - चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा ?

पटके भीने पद - पाणि मोह के नद मे,
जन क्या क्या करते नही स्वप्न मे, मद मे ?
हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डर्हंगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दयापूरण हो तब भी।
हा दया ! हन्त वह धृणा ! अहह वह करणा !
- वैतरणी - सी हैं आज जाह्नवो - वरुणा !

सह सकती है चिरनरक, सुनें सुविचारी,
 पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
 लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
 मैंने इसके ही लिए तुम्हें बन भेजा।
 घर चलो इसीके लिए, न रुठो अब यों,
 कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?
 मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
 मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।
 मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
 अपने से पहले इसे मानते हो तुम।
 तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
 यदि वह सबपर यो प्रकट हुआ है वैसा,
 तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
 मैं रहूँ पकिला, पद्म-कोप है मेरा।
 आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले लेकर
 समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर।
 मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
 उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।
 देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
 दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।”

हँस पडे देव केकयी-कथन यह सुनकर ,
 रो दिये धूध दुर्देव दैत्य सिर धुनकर ।
 "छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का ,
 बल दिया उसीने भूल मान लेने का ।
 अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे ,
 मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे ।
 होने पर बहुधा अर्धं रात्रि अन्धेरी ,
 जोजो आकर करती पुकार थी मेरी—
 'लो कुहुकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा ;
 निज मंझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा ।
 भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थं सशय का ,
 प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का ।
 तुमपर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती ,
 तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती ।—
 जीजी ही आती, किन्तु कौन मानेगा ?
 जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा ।"
 "हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है सब ,
 इस कारण वह कुछ खेद मानता है क्व ?"
 "क्या स्वाभिमान रखती न केकयी रानी ?
 बतला दे कोई मुझे उच्चकुल - मानी ।

। सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा ?
 पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा ?
 ॥ मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी ,
 । इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी ।
 पर महा दीन हो गया आज मन मेरा ,
 भावज, सहेजो तुम्हीं भाव - धन मेरा ।
 । ममुचित ही मुझको विश्व - धूरणा ने धेरा ,
 समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा ?
 । यो ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को ,
 मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को !
 धुम गई पिता की चिता भरत - भुजधारी ,
 पितृभूमि ग्राज भी तप्त तथापि तुम्हारी ।
 भय और शोक सब दूर उडाओ उसका ,
 चलकर सुचरित, फिर हृदय जुडाओ उसका ।
 । हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो ,
 । मैं पाल सबीं न स्वधर्म, उसे तुम पालो ।
 स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं ,
 मरकर तो उन्हों दिखा सकूँ यह मुख मैं ।
 । मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा ,
 पर भरत - वाक्य है—महूँ विश्व की क्रीड़ा ।

जीवन - नाटक का अन्त कठिन है मेरा ,
 प्रस्ताव मान मे जहाँ अधैर्य औधेरा ।
 अनुशासन ही था मुझे आभी तक आता ,
 बरती है तुमसे विनय आज यह माता—।”

“हा मात , मुझको करो न यो अपराधी ,
 मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी ।
 कहती हो तुम क्यो अन्य - तुल्य यह वाणी ;
 प्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी ?
 इस भाँति मनाकर हाय, मुझे न रुठाओ ,
 जो उँहूँ न मैं, क्यो तुम्ही न आप उठाओ ।
 वे शंशव के दिन आज हमारे बीते ,
 माँ के शिशु क्यो शिशु ही न रहे मनचीते ।
 तुम रीझ खीझकर प्यार जनाती मुझको ,
 हँस आप रुठाती, आप मनाती मुझको ।
 वे दिन बीते तुम जीर्ण दुख की मारी ,
 मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी ।
 अब उठा सकोगी तुम न तीन मे कोई ।”
 ‘तुम हलके कवये ?—” हँसीकेकपी, रोई ।

“माँ, अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा ?
 अपने ऊपर क्या आप अद्वि ढाहेगा ?
 अब तो आज्ञा की अम्ब, तुम्हारी वारी,
 प्रस्तुत है मैं भी धर्मधनुधृतिधारी ।
 जननी ने मुझको जना, तुम्हीने पाला,
 अपने सांचे मे आप यत्न से ढाला ।
 सबके ऊपर आदेश तुम्हारा मैया,
 मैं अनुचर पूत, सपूत, प्यार का भैया,
 बनवास लिया है मान तुम्हारा शासन,
 लूँगा न प्रजा का भार, राज - सिंहासन ?
 पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा,
 वह तात - सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा—
 जिस पर हैं अपने प्राण उन्होने त्यागे,
 मैं भी अपना द्रत - नियम निवाहूँ आगे ।
 निष्फल न गया माँ, यहाँ भरत का आना,
 सिरमाथे मैंने बचन तुम्हारा माना ।
 |सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो बन मे ।
 सुख धन-धरती मे नहो, किन्तु निज भन मे ।
 यदि पूरा प्रत्यय न हो तुम्हे इस जन पर,
 तो चढ सकते हैं राजदूत तो धन पर ।”

"राघव, तेरे ही योग्य कथन है तेरा,
 दृढ़ वाल-हठो तू वही राम है मेरा।
 देखें हम तेरा अवधि मारें सब सहकर ।"
 कौसल्या चुप हो गई आप यह कहकर।
 ले एक साँस रह गई सुमित्रा भोली,
 कैकेयी हो फिर रामचन्द्र से बोली—
 "पर मुझसे तो परितोष नहीं है इससे,
 हा ! तब तक मैं क्या कहूँ मुर्नूंगी किससे ?"
 "जीतो है अब भी अम्ब, ऊर्मिला बेटी ;
 इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटी ।"
 "रानी, तूने तो रुला दिया पहले ही,
 यह कह काँटों पर मुला दिया पहले ही ।
 आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आ जा,
 पिस मुझसे चंदन-लता मुझीपर ढा जा !
 'हे वत्स, तुम्हें बनवास दिया मैंने ही,,
 अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही ।"
 ("पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
 लौटाकर वह कब कहाँ लिया जाता है ?
 क्यों व्यर्थं तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं,
 वे त्रेम और कर्तव्य भिन्न होते हैं ।

जाने दो, निरांय करें भगत ही साग—
 मेरा अथवा है, कथन यथार्थं तुम्हारा ।
 मेरा-इनकी चिर पच रही तुम माता,
 हम दोनों वे मध्यस्थ आज ये भ्राता ॥

“हा आर्य ! भरत के लिए और था इतना ?”
 “वस भाई, लो माँ, वहे और ये कितना ?”
 “कहने रो तो, है वहूत दुख से सुख से,
 पर आर्य ! कहूँ तो कहूँ आज किस मुख से ?
 तब भी है तुमसे विनय, लौट घर जाओ ।”
 “इस ‘जाओ’ का क्या अर्थ, मुझे बतलाओ ?”
 “प्रभु, पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा व्रत मैं ।”
 “पर क्या अयोग्य असमर्थं और अनिरत मैं ?”
 “यह सुनना भी है पाप, भिन हूँ क्या मैं ?”
 “इस शका से भी नहीं खिन्न हूँ क्या मैं ?—
 हम एकात्मा हैं, तदपि भिन्न है काया ।”
 “तो इस काया पर नहीं मुझे बुद्ध माया ।
 सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे,
 मिल जायं तुम्हीमे प्राण आर्तं अनुरागे ॥”

“पर मुझे प्रयोजन श्रमी अनुज, उस तन का ।”
 “तो भार उतारो तात, तनिक इस जन का ।
 तुम निज विनोद में व्यथा छिपा सकते हो ,
 करके इतना आयास नहीं थकते हो ।
 पर मैं कैसे, किसलिए, सहौं यह इतना ?”
 “मुझ जैसे मेरे लिए तुम्हे यह कितना ?
 शिष्टाचल निष्कल नहीं कही होता है ,
 वन में भी नागरभाव - बीज बोता है ।
 कुछ देख रही है दूर हृषि - मति मेरी ,
 क्या तुम्हे इष्ट है वीर, विफल - गति मेरी ;
 तुमने मेरा आदेश सदा से माना ,
 है तात, कहो क्यों आज व्यर्थ हृठ ठाना ?
 करने मे निज कर्तव्य कुपश भी यश है ।”
 “हे आर्य, तुम्हारा भरत अतीव अवश है ।
 क्या कहूं और क्या कहूं कि मैं पथ पाऊँ ?
 क्षण भर ढहरो, मैं ठगा न सहसा जाऊँ ।”

समाटा - सा छा गया सभा मे क्षण भर ,
 हिल सका न मानो स्वर्य काल भी करा भर ।

जावालि जरठ को हुआ मौन दुःसह - सा ,
 बोले वे स्वजटिल शीर्ष हुलाकर सहसा—
 “ओहो ! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है ,
 देने को उल्टा राज्य द्वन्द्व लड़ता है ।
 पितृ - वध तक उसके लिए लोग करते हैं ।”
 “हे मुने, राज्य पर वही मर्यादा मरते हैं ।”
 “हे राम, त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी ।”
 “पर मुने, भोग को भी न समझिये वैसी ।”
 “हे तरुण, तुम्हे संकोच और भय किसका ?”
 “हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका ।”
 “पशु - पक्षी तक हे धीर, स्वार्य - लक्षी हैं ।”
 “हे धीर, किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हैं ।”
 “मत की स्वतन्त्रता विशेषता आयों की ,
 निज मत के ही अनुसार किया कायों की ।
 हे वत्स, विफल परलोक - हृषि निज रोको ।”
 “पर यही लोक हे तात, आप अवलोको ।”
 “यह भी विनश्य है, इसीलिए है कहता ।”
 “क्या ?—हम रहते, या राज्य हमारा रहता ?”
 “मैं कहता हूँ—सब भस्सशेष जब लोगों ,
 तब दुःख छोड़कर क्यों न सौंदर्य ही भोगो ?”

“पर मौल्य कहाँ है, मुने, आप बतलावें ?”

“जनसाधारण ही जहाँ मानते आवें ।”

“पर साधारण जन आप न हमको जानें,
जनसाधारण के लिए भले ही मानें ।”

“मह भावुकता है ।” “हमें इसीमें सुख है,
फिर पर-मुख में क्यों चाहवाक्य, यह दुख है ?”

तब वामदेव ने कहा—“धन्य भावुकता,
कर सकता उसका मूल्य कौन है चुकता ?
भावुक जन से ही महत्कार्य होते हैं,
ज्ञानी ससार असार मान रोते हैं ।”

“किनसे विवाद है आर्य, आप करते हैं ?”

बोले लक्ष्मण—“ये सौख्य खोज मरते हैं !
सुख मिले जहाँ पर जिन्हे, भ्वाद वे चबखें,
पर औरो का भी ध्यान कृपा कर रखें ।

शासन सब पर है, इसे न कोई भूले—
शासक पर भी. वह भी न फलकर लले ।”

मन चाहे जैसे और परीक्षा लोजे ,
आवश्यक हो तो स्वय स्वदीक्षा दीजे ।”
प्रभु भोले—“शिक्षा वस्तु सदैव अद्भूती ,
है भरतभद्र, हो वात तुम्हारी पूरी ।”

“हे देव, विफल हो वार वार भी, मन की ,—
प्राशा अटकी है अभी यहाँ इस जन की ।
जब तक पितुराजा आर्यं यहाँ पर पालें ,
जब तक आर्या ही चलें,—स्वराज्य संभालें ।”
“भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे ?
हमको - तुमको सन्तोष सभीको जिससे ।”
“पर मुझको भी हो तब न ?” मैथिली बोली—
कुछ हुई कुटिल - सी सरल दृष्टियाँ भोली ।
“कह चुके अभी मुनि—‘सभी स्वार्थ ही देखे ।’
प्रपने मत मे वे यहाँ मुझीको लेखे ।”
“भाभी, तुमपर है मुझे भरोसा दूना ,
तुम पूर्ण करो निज भरत-मातृ-पद ऊना ।
जो कोसलेश्वरी हाय ! वेश ये उनके ?
मण्डन हैं अथवा चिह्न शेष ये उनके ?”

“देवर, न रुलाथो आह, मुझे रोकर पो,
 कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों ?
 स्वयमेव राज्य का मूल्य जानते हो तुम,
 क्यो उसी धूल में मुझे सानते हो तुम ?
 मेरा मण्डन सिन्दूर - विन्दु यह देखो,
 सौ सौ रत्नों से इसे अधिक तुम लेखो ।
 शत चन्द्र - हार उस एक अरुण के आगे,
 कब स्वयं प्रकृति ने नहीं स्वयं ही त्यागे ?
 इस निज सुहाग की सुप्रभात बेला में,
 जाग्रत जीवन की खण्डभयी खेला में,
 मैं अम्बा - सम आशीष तुम्हें दूँ, आओ,
 निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ !”

“मैं अनुगृहीत हूँ, अधिक कहूँ क्या देवी,
 निज जन्म जन्म में रहूँ सदा पद - सेवी ।
 हे यशिस्त्वनी, तुम मुझे मान्य हो यश से ।
 पर लगें न मेरे वचन तुम्हें कर्कश - से ।
 तुमने मुझको यश दिया स्वयं श्रीमुख से ।
 सुख - दान करें अब आर्य वचाकर दुर्ल से ।
 हे राघवेन्द्र, यह दास सदा अनुयायी,
 है बड़ी दण्ड से दया अन्त में न्यायी !”

“क्या कुछ दिन तक भी राज्य भारहै भाई ?
 सब जाग रहे हैं, अद्वैति. हो आई ।”

“हे देव भार के लिए नहीं रोता हूँ,
 इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ ।
 प्रिय रहा तुम्हें यह दयाधृष्टलक्षण तो,
 कर लेंगी प्रभु - पादुका राज्य - रक्षण तो ।
 तो जैसी आज्ञा, आर्य सुसी हो वन में,
 जूझेगा दुख से दास उदास भवन में ।
 वस, मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ,
 वच उनके बल पर, अवधि-पार मैं पाऊँ ।
 हो जाय अवधि-मय अवध अयोध्या अव से,
 मुख खोल नाथ कुछ बोल सकूँ मैं सवसे ।”

“रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
 शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी !
 या यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी,
 तेरी आर्या के वचन सिद्ध है त्यागी !”

“अभियेक अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित, कहिए,
 उसकी इच्छा है—यही तीर्थ वन रहिए ।
 हम सब भी कर लें तनिक तपोवन-यात्रा ।”

“जैसी इच्छा, पर रहे नियत ही मात्रा ।”

तब सबने जय जयकार किया मनमानी ,
 बचित होना भी इलाध्य भरत का जाना ।
 पाया अपूर्व विश्राम सौंस - सी लेकर ,
 गिरि ने सेवा की शुद्ध अनिल-जल देकार ।
 मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी ,
 शशि लिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी ।
 द्विज चहक उठे, होगया नया उजियाला ,
 हाटक-पट पहने दोख पढ़ी गिरिमाला ।
 चिन्दूर-चढ़ा आदर्श - दिनेश उदित था ,
 जन जन अपने को आप निहार मुदित था ,
 चुख लूट रहे थे अतिथि विचरकर, गाकर—
 'हम धन्य हुए इस पुण्य भूमि पर आकर ।'
 इस भाँति जनों के मनोमुकुल खिलते थे ,
 नव नव मुनि-दर्शन, प्रकृति-हश्य मिलते थे ।

गुरु-जन-समीय थे एक समय जब राघव ;
 लक्ष्मण से बोली जनकसुता साइलाधव—
 "हे तात, तालसम्मुटक तनिक ले लेना ,
 चहनों को बन-उपहार मुझे है देना ।"

मर्टम सर्ग

“जो श्राजा,”—लक्ष्मण गये तुरन्त कुटी में ,
 ज्यों घुसे सूर्य-कर-निकर सरोज - पुटी में ।
 जाकर परन्तु जो वहाँ उन्होने देखा ,
 तो दीख पड़ी कोणस्थ ऊमिला - रेखा ।
 यह काया है या दोष उसीकी द्याया ,
 क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया ।

“मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी ,
 मैं वाँध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी ।”
 इर पड़े दौद सौमित्रि प्रिया - पद - तल में ,
 वह भीग उठी प्रिय - चरण धरे हग - जल में ।

“वन में तनिक तपस्या करके
 वनने दो मुझको निज योग्य ,
 भाभी की भगिनी, तुम मेरे
 अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।”
 “हा स्वामी ! कहना या क्या क्या
 कह न सकी, कर्मों का दोष !
 पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
 मुझे उसीमें है सन्तोष ।”

एक घड़ी भी बीतन पाई,
 बाहर से कुछ वास्ती आई।
 सीता कहती थी कि—“अरे रे,
 आ पहुँचे गिरुपद भी मेरे !”

नवम सर्ग

[१]

दो वशो मे प्रकट करके पावनी लोक - लीला ,
सौ पुत्रो से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला ,
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही ,
राजा - योगी जय जनक वे पुण्यदेही विदेही ।

विफल जीवन व्यर्थ वहा वहा ,
सरस दो पद भी न हुए हहा ।
कठिन है कविते, तब भूमि ही ।
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा ।

करणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' मे और अधिक तू रोई— }
मिरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यो कहे कोई ? }

अवध का अपनाकर त्याग से ,
 वन तपोवन-सा प्रभु ने किया ।
 भरत ने उनके अनुराग से ,
 भवन मे वन का व्रत ले लिया ।

स्वामि-सहित सीता ने
 नन्दन माना सधन - गहन कानन भी ,
कुमिला वधु ने वन
किया उन्हींके हितार्थ निज उपवन भी ।

अपने अनुलित कुल मे
 प्रकट हुआ था कलक जो काला ,
 वह उस कुल-बाला ने
 अथु - सलिल से समस्त धो ढाला ।

भूल अवधि-सुध प्रिय से
 कहती जगती हुई कभी—‘आओ ।’
 किन्तु कभी सोती तो
 उठती वह चौंक बोलकर—‘जाओ ।’

मानस-मन्दिर मे सती, पति की प्रतिमा थाप ,
 जलतो-सी उस विरह मे, यनी आरतो आप ।

आँखो मे प्रिय - मृति थी, भूले थे नव भोग ,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !

आठ पहर चौमठ घडी स्वामी का ही ध्यान ,
छढ़ गया पीछे स्वय उससे आत्मज्ञान ।

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से ,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से ,
वर्ण-वर्ण सदेव जिनके हो विभूपण करण के ,
क्यो न बनते कविजनो के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?

हले आँखो मे थे, मानस मे कूद मग्न प्रिय अव थे ,
देटे वही उड़े थे, बडे बडे अशु वे कव थे ?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट ,
घन्य समी देतो रही निज यत्नो की ओट ।

मिलाप था दूर अभी बनी का ,
विलाप ही था वस का बनी का ।
अपूर्व आलाप वही हमारा ,
यथा विपची—दिर दार दारा ।

सोचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कत्तरो ,
 शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फेलें लताएं हरी ।
 कीड़ा-कानन-शील यन्त्र-जल से ससिर्क्त होता रहे ,
 मेरे जीवन का, चलो सखि, वही सोता भिगोता बहे ?

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ ?
 है ही क्या, हा ! आज जो मैं जताऊँ ?
 तो भी तूली, पुस्तिका और बीणा ,
 चौथी मैं हूँ, पाँचवी तू प्रबीणा !

हुआ एक दुःस्वर-सा सखि, कैसा उत्पात ,
 जगने पर भी वह बना बैसा ही दिन रात !

खान-पान तो ठीक है पर तदनन्तर हाय !
 आवश्यक विद्याम जो उसका कौन उपाय ?

अरी, व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई ,
 हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?
 वही पाक है, जो बिना भूख भावे ,
 बता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे ?

वनाती रसोई, सभीको खिलाती,
इसी काम मे आज मैं त्रुपि पाती ।
 रहा बिन्नु भेरे निए एक गोना,
 खिलाकं किमे मैं अलोना-सलोना ?

बन को भेट मिलो है,
 एक नई वह जड़ी मुझे जोजो से,
 साने पर मस्ति, जिमके \/
 गुड गोवरन्मा लगे स्वय ही जी से ।

रस हैं बहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,
 विना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग ।

लाई है क्षोर क्यों तू ? हठ मत वर यों,
 मैं पियूँगी न आसी,
 मैं हूँ क्या हाय ! कोई दिशु सफलहठो,
 रव भी राज्यशाली ?
 माना तूने मुझे है तरण विरहिणो,
 दीर के साथ व्याहा,
 आँखों का नीर ही क्या कम फिर मुझको ?
 चाहिए और क्या हा !

चाहे फटा फटा हो, मेरा अम्बर अशून्य है आली,
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली !

धूलि-शूसर है तो क्या, यो तो मृत्युनाम गात्र भी,
बझ ये वल्कलों से तो है सुरम्य, सुपात्र भी !

फटते हैं, मैले होते हैं, सभी बझ व्यवहार से ;
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से ?

पिँड़े ला, साँड़े ला, सखि, पहनूँ ला, सब करूँ ;
जिजै मैं जैसे हो, यह अवधि का अरण्डव तरूँ ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विघ बता, धीरज घरूँ ;
अरी, कैसे भी तो यकड़ प्रिय के दे पद मरूँ ।

रोती है और दूनी निरखकर मुझे
दीन-सी तीन सासें ,
होते हैं देवरथी नत, हत बहनें
छोड़ती है उसासें ।
आली, तू ही बता दे, इस विजन विना
मैं कहाँ आज जाऊँ ?
दीना, हीना, अधीना ठहरकर जहाँ -
शान्ति दूँ और पाऊँ ?

आई थी ससि, मैं यहाँ लेकर हपोल्लास ,
जाऊंगी कैसे भला देकर यह निःश्वास ?
कहाँ जायेंगे प्राण ये लेकर इतना ताप ?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप ।

साल रही ससि, माँ को
भाँकी वह चित्रकूट की मुझ्हो ,
बोली जब वे मुझ्हे—
‘मिला न वन हीन भवन ही तुझ्हको !’

त तथा जामाता समान ही मान तात थे आये ,
र निज राज्यन मौभली माता को वे प्रदान कर पाये ?

मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या सँभल के ?
वहे आसू होके ससि, सब उपालम्भ गल के ।
उन्हें हो आई जो निरत मुझ्हको नीरव दया ,
उसीकी पीड़ा का अनुभव मुझे हा ! रह गया !

न कुछ कह सकी अपनी ,
न उन्हीकी पूछ मैं सकी भय से ,
अपने को भूले वे ,
मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से ।

✓ | मिथिला मेरा मूल है और अयोध्या मूल ,
 ✓ | चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ मूल ।

सिद्ध - शिलाओं के धाधार ,
 ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार ।

तुकमर ऊंचे ऊंचे भाड़ ,
 तने पत्र मय छवि पहाड़ ।
 क्या अपूर्व है तेरी आड़ ,
 करते हैं वहु जीव विहार ।
 ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार ।

धिरकर तेरे चारो ओर ,
 करते हैं धन क्या ही धोर ।
 नाच नाच गाते हैं मोर ,
 उठतो है गहरी गुजार ,
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार ।

नहलाती है नभ की वृष्टि ,
 अग पोछती आतप - सृष्टि ,
 करता है शशि शोतल दृष्टि ,
 देता है ऋतुपति शृङ्गार ,
 ✓ | ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार ।

तू निर्भर का डाल दुक्कल,,
 लेकर कन्द - मूल - फल - फूल ,
 स्वागतार्थ सबके अनुकूल ,
 खडा खोल दरियो के द्वार , .
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

सुदृढ, धातुमय, उपलश्चारीर ,
 अन्तःस्तल मे निर्मल नीर ,
 अटल-अचल तू धीर-गमीर ,
 समशीतोष्ण, शान्तिसुखसार ,
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

विविध राग-रजित, अभिराम ,
 तू विराग-साधन, वन-धाम ,
 कामद होकर आप अकाम ,
 नमस्कार तुमको शत वार ,
 ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार !

पितपतिकाएँ हो

जितनी भी सखि, उन्हे निमन्त्रण दे आ ,
 मदुःखिनी मिलें तो
 दुःख बैठें, जा, प्रणयपुरस्तर ले, आ ।

सुख दे सकते हैं तो दुखी जन ही मुझे, उन्हें यदि भेटूँ,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ ?

इतनी बड़ी पुरी मे, क्या ऐसी दुखिनी नहीं कोई ?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझसी हो हँसी-रोई ?

मैं निज ललितकलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन मे,
सखि, पुरवाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन मे ?

कौन-सा दिलाऊँ दृश्य वन का वता मैं आज ?

हो रही है आलि, मुझे चित्र-रचना की चाह, —
नाला पढ़ा पथ मे, किनारे जेठ-जीजी खड़े ,

अम्बु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह ?
किंवा वे खड़ी हो धूम प्रभु के सहारे आह ,

तलवे से कण्टक निकालते हो ये कराह ?
अथवा भुकाये खड़े हो ये लता और जीजी
फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हो वाह वाह ?

प्रिय ने सहज गुणो से, दीक्षा दी थी मुझे प्रणय, जो तेरी ,
आज प्रतीक्षा-द्वारा, लेते हैं वे यहाँ परीक्षा मेरो ।

जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी ,
 हरी भूमि के पात पात मे मैंने हृदगति हेरी ।
 खींच रही थी हृषि सृष्टि यह स्वरंगरिमयाँ लेकर ,
 पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय मे सेकर ।
 तृण तृण को नभ सीच रहा पा वूंद वूंद रस देकर ,
 बढ़ा रहा था सुख की नौका समय समीरण खेकर ।
 बजा रहे थे द्विज दल-बल से शुभ भावो की भेरी ,
 जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी ।
 वह जीवन-मध्याह्न सखी, अब शान्ति-क्लान्ति जो लाया ,
 खेद और प्रस्वेद - पूरण यह तीव्र ताप है छाया ।
 पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया ?
 रहे न हममे राम हमारे, मिली न हमको माया !
 यह विपाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो केरी ,
 जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी ।
 वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है ,
 पूर्व और पश्चिम की लाली रोप - वृष्टि करती है ।
 लेता है नि श्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है ,
 उबल सूखती है जलधारा, यह घरती भरती है ।
 पत्र-पुष्प सब विखर रहे हैं, कुशल न मेरी - तेरी ,
 जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी ।

आगे जीवन की सन्ध्या है, देखे क्या हो आली,
 तू कहतो है—‘चन्द्रोदय हो, काली मे उजियाली’ ?
 सिर-आँखो पर क्यो न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली ?
 किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली ?
 ‘फिर प्रभात होगा’ क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी,
 जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी ।

सखि, विहग उड़ा दे, हों सभी मुक्तिमानी,
 सुन शठ शुक-वाणी—‘हाय ! रुठो न रानी !’
 सग, जनकपुरी की व्याह दूँ सारिका मैं ?
 तदपि यह वही की त्यक्त है दारिका मैं !

कह विहग, कहाँ है आज आचार्य तेरे ?
 विकच बदन बाले वे कृती कान्त मेरे ?
 सचमुच ‘मृगया मैं’ ? तो अहेरी नये वे,
 यह हत हरिणी क्यों छोड़ यो ही गये वे ?

निहार सखि, सारिका कुछ कहे विना शान्त - सो,
 दिये श्वरण है यही, इधर मैं हुई आन्त - सो ।
 इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है वनी—
 ‘धरो !’ खणि, किसे धरें ? धृति लिये गये है धनी ।

तुझपर-मुझपर हाथ केरते साथ यहाँ ,
 शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ?
 | तेरी ही प्रिय जन्मभूमि मे, दूर नहो ,
जा तू भी कहना कि ऊमिला क्रूर वहाँ !

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे ,
 गाते सदा जो गुण ये तुम्हारे ?
 लाते तुम्ही हा ! प्रिय-पत्र-पोतु वे ,
 दुःखाव्य में जो बनते सहारे ।

ओरों की क्या कहिये ,
 निज रुचि ही एकताः नहीं रखती ;
 चन्द्रामृत पीकर तू
 चकोरि, अंगार है चखती !

विहग उड़ना भी ये हो बढ़ भूल गये, अये ,
 यदि अब इन्हे छोड़ तो और निर्देयता दये !
 परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हे, सब हैं वहे ;
 वस अब हमी साथी-सगी, सभी इनके रहे ।

मेरे उर-अंगार के बने बाल-गोपाल ,
 अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल !

वेदने, तू भी भली बनी !

पाई मैंने आज तुझीमे अपनी चाह धनी ।
 नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर - कनी ,
 सजग रहै मैं, साल हृदय मे, ओ प्रिय-विदिषाख-अनी !
 ठड़ी होगी देह न मेरो, रहे द्वाम्बु - सनी ,
 तू ही उसे उषण रखेगी मेरी तपन - मनी !
 }आ, अभाव की एक, आत्मजे, और अदृष्टि - जनी !
 सेरी हो छातो है ' सचमुच उपमोचितस्तनी !
 अरी वियोग - समाधि, अनोखो, तू क्या ठीक ठनी ,
 अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिची - तनी !
 मन - सा मानिक मुझे मिला है तुझमे उपल - सनी ,
 तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण - धनी !

} विरह सग अभिसार भी ,
 भार जहाँ आभार भी ।

मैं पिंजडे मे पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी ,
 काल कठिन वयो न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी !
 जहाँ विरह ने गार दिया है किया वहाँ उपकार भी ,
 सुध बुध हर ली, किन्तु दिया है कालज्ञान विचार भी ।

जना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी ,
 और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी !
 | जाना मैंने इस उर मे थी ज्वाला भी, जलधार भी ,
 प्रिय ही नही यहाँ मैं भी थी, और एक ससार भी !

लिखकर लोहित लेख, छूब गया है दिन अहा !
 व्योम - सिन्धु सखि, देख, तारक - बुद्धुद दे रहा !

दीपक-सग शलभ भी
 जला न सखि, जीत सत्त्व से तम को ,
 क्या देखना - दिखाना
 क्या करना है प्रकाश का हमको ?

दोनो और प्रेम पलता है ।
 सखि, पतग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है ।
 ~~ सोस हिलाकर दीपक कहता —
 'वन्धु, वृथा ही तू क्यो दहता ?'
 पर पतग पड़कर ही रहता ।
 कितनी विह्वलता है ।
 दोना और प्रेम पलता है ।

वचवर हाथ । पतग मरे क्या ?
 प्रणय छोडवर प्राण धरे क्या ?
 जले नहीं तो मरा करे क्या ?
 क्या यह असफलता है ?
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

कहूता है पतग मन मारे—
 'तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
 क्या न मरण भी हाथ हमारे ?'
 क्या यह विसे छलता है ?
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

दीपक के जलने में आली,
 पिर भी है जीवन की लाली ।
 किन्तु पतग-भाग्य-लिपि वाली,
 वित्तवा वश चलता है ?)
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

जगती यगिणवृत्ति है रगती ।
 दसे जाहती जिगने जगती,
 काम नहीं, परिगाम निरगती ।
 मुझे यही गमना है ।
 दोनों ओर प्रेम पलता है ।

बता अरी, अब क्या करूँ, रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ खख मार !

क्या क्षण क्षण मे चौक रही मैं ?
सुनती तुझसे आज यही मैं।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?

अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अग सहेज , /
तू है फूलो मे पलो, यह काँटो की सेज ! /

यथार्थ था सो सपना हुआ है ,
अलीक था जो अपना हुआ है ।
रही यहाँ केवल है कहानी ,
सुना वही एक नई - पुरानी ।

आओ हो, आओ, तुम्ही प्रिय के स्वप्न विराट ।
अर्ध्य लिये आँखें खड़ी हेर रही हैं बाट ।

आ जा, मेरो निदिया गूँगो !
 आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चन्दखिलौना दूँगो !

प्रिय के आने पर आवेगी ,
 अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी ।
 पर यदि आज उन्हें लावेगी ,

तो तुझसे ही लूँगी ।
 आ जा, मेरी निदिया गूँगी !

पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू ,
 तनिक सलोंना रस भी चख तू ,
 आ, दुनिया की ओर निरख तू ,

मैं न्योद्धावर हूँगी ।
 आ जा, मेरी निदिया गूँगी !

हाय ! हृदय को याम ,
 पकड़ भी मैं सकती कहाँ ,
 दुःस्वप्नों का नाम ,
 लेती है तू सखि, वहाँ ।

स्नेह जलाता है यह वत्ती ।
फिर भी वह प्रतिभा है इसमे, दोसे जिसमे राई-रत्ती ।

रखती है इस अन्धकार मे सखि, तू अपनी साख ,
मिल जाती है रवि-चरणो मे कर अपने को राख ।

खिल जाती है पत्ती पत्ती ,
स्नेह जलाता है यह वत्ती !

होने दे निज शिखा न चचल, ले अचल की ओट ,
ईट ईट लेकर चुनते हैं हम कोसो वा कोट ।

ठड़ी न पड, बनी रह तत्ती ,
स्नेह जलाता है यह वत्ती !

हाय ! न आया स्वप्न भी, और गई यह रात ,
सखि, उडुगण भी उड चले, अब वया गिनूँ प्रभात ?

चचल भी किरणो का
चरित्र वया ही पवित्र है भोला ,
देकर ' साख उन्होन
उठा लिया लाल लाल वह गोला ।

समि, नीलनभस्सर मे उतरा
 यह हस अहा ! तरता तरता ,
 अब तारक-मौकिक शेष नहीं ,
 निकला जिनको चरता चरता ।
 अपने हिम-विन्दु वचे तब भी ,
 चलता उनको धरता धरता ,
 गढ़ जाये न कण्टक भूतल के ,
 कर ढाल रहा डरता डरता !

भीमी या रज मे सनी अलिनी की यह पाँख ?
 आलि, मुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख ?
 वो बोकर कुछ काटते, सो सोकर कुछ काल ,
 रो रोकर हो हम मरे, खो खोकर स्वरन्ताल !

ओहो ! मरा वह वराक वसन्त कंसा ?
 ऊँचा गला रुध गया ग्रद अन्त जैसा !
 देखो, बढ़ा जवर, जरा-जड़ता जगी है ,
 लो, ऊर्ध्वं साँस उमकी चलने लगी है !

तपोयोगि, आओ तुम्हीं, मद खेतो के सार ,
 यूद्धा-वर्वंट हो जहाँ, करो जलायन द्यार ।

आया अपने द्वार तप, तू दे रही किवाड़ ,
सखि, क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर की आड़ ?

ठेल मुझे न अकेलो अन्ध-अवनि-गर्भ-गेह मे आली ?
आज कहाँ है उसमे हिमाशु-मुख की अपूर्व उजियाली ?

आकाश-जाल सब ओर तना ,
रवि तन्तुवाय है आज बना ,
करता है पद - प्रहार वही ,
मवखी - सी भिन्ना रही महो ।

लपट से भट रुख जले, जले ,
नद - नदी घट सूख चले, 'चले ।
विकल वे मृग - मीन मरे, गरे ,
विफल ये दृग दीन भरे, भरे ।

या तो पेड उखाडेगा, या पत्ता न हिलायगा ,
विना धूल उडाये हा ! ऊप्मानिल न जायगा ।

गृहवापी कहती है—

'भरी रही, रिक्त वयो न अब हूँगी ?
पकज तुम्हे दिये हैं ,
और किसे पक आज मैं दूगी ?'

दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मै अवश्य ही लूँगी, सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूँगो ?

आलि इसी बापी मे हस बने बार बार हम विहरे, सुधकर उन छीटोंकी मेरे ये अग आज भी सिहरे ।

चन्द्रकान्तमणियाँ हटा, पत्थर मुझे न भार ।
चन्द्रकान्त आवें प्रथम जो सबके शृगार ।

हृदयस्थित स्त्रामी की
स्वजनि, उचित क्षयों नहीं अचारा,
मन सब उन्हें चढावे,
चन्दन की एक वया चर्चा ?

बंधकर घुलना अथवा,
जल पल भर दीप-दान कर खुलना,
तुझको सभी सहज है,
मुझको कपूरवत्ति, बस घुलना ।

वरो विसीकी हष्टि को शीतल सदय कपूर ।
इन थाँखों मे आप ही नीर भरा भरपूर ।

मन को यो मत जीतो !
 वैठो है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो !

इतना तप न तपो तुम प्यारे ,
 जले आग - सी जिसके मारे ।
 देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे ,
 जन को भी मनचीतो !
 मन को यो मत जीतो !

प्यासे हैं प्रियतम, सब प्राणी ,
 उनपर दया करो हे दानी ,
इन प्यासी आँखों मे पाजे ,
 मानस, कभी न रीतो !
 मन को यो मत जीतो !

घरवर घरा धूप ने धाँधी ,
 धूल उडाती है यह आँधी ,
 प्रलय, आज किसपर कटि वाँधी ?
 जड न वनो, दिन, बीतो , | ..
 मन को यो मत जीतो !

मेरी चिन्ता छोडो ,
 मग्न रहो नाथ, आत्मचिन्तन मे ,
 बेठी हूँ मैं फिर भी ,
 अपने इस नृप - निकेतन मे ।

। नयन नीर पर ही सखो, तू करतो थी स्वेद ,
 । टपरु उठा है देख अब, रोम रोम से स्वेद ।

। ठहर अरो, इस हृदय मे लगी विरह को आग ,
 सालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग !

प्रियतम के गौरव ने
 लधुता दी है मुझे, रहे दिन भारी ।
 सखि, इस कटुता मे भी
 मधुसूति की मिठास, मैं बलिहारी ।

तप, तुझसे परिपक्ता पाकर भले प्रकार ,
 बने हमारे फल सकल, प्रिय के ही उपहार ।

पढ़ी है लम्बी-सी अवधि पथ मे, व्यग्र मन है,
 गला रुखा मेरा, निकट तुझसे आज धन है।
 मुझे भी दे दे तू स्वर तनिक सारग, अपना,
 कहाँ तो मैं भी हा ! स्वरित प्रिय का नाम जपना।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल,
 ये खारी आँसू की बूँदें दे सकती यदि मोल !
 कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
 फर भी फिर भी इस भाढ़ी के भुरमुट मे रस धोल !
 श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
 देख, आप ही अश्वण हुए है उनके पाण्डु कपोल !
 जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वय हिल-डोल,
 और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल !
 न कर वेदना-सुख से बचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
 जो तेरे सुर मे सो मेरे उर मे कल-क़लोल !

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान !
 हा ! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान !

धूम उठे हैं शून्य मे उमड-धुमड धन धोर,
 ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर ?

मेरी ही पृथिवी का पानी ,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी !

मेरी ही धरती का धूम ,
 बना आज आली, धन धूम ।
 गरज रहा गज-सा झुक भूम ,
 ढाल रहा मद मानी ।
 मेरी ही पृथिवी का पानी ।

अब विथाम करें रवि-चन्द्र ;
 उठे नये अकुर निस्तन्द्र ;
 वीर, सुनायो निज मृदुमन्द्र ,
 कोई नई कहानी ।
 मेरी ही पृथिवी का पानी ।

वरस घटा, वरसूं में सग ;
 सरसें अवनी के सब अग ;
 मिले मुझे भी कभी उमग ,
 सब के साथ सयानी ।
 मेरी ही पृथिवी का पानी ।

दरसो परसो घन, वरसो ,
 सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव जीवन, वरसो ।
 घुमड़ उठो आपाड़ उमड़कर पावन सावन, वरसो ।
 भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिथन, वरसो ।
 सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभजन, वरसो ।
 व्यग्र उदग्र जगजननी के, अयि अग्रस्तन, वरसो ।
 गत सुकाल के प्रत्यावर्त्तन है शिखिनर्त्तन, वरसो ।
 जड़ चेतन में विजली भर दो ओ उद्वोधन, वरसो ।
 चित्तमय वन्में हमारे मृण्मय पुलकांकुर वन, वरसो ।
 मन्त्र पढ़ो, छीटे दो, जागे सोये जोवन, वरसो ।
 घट पूरो त्रिभुवनमानस रस, कन कन छन छन, वरसो ।
 आज भीगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, वरसो ।

घटना हो, चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य , । ५
 आती है ऊपर सखी, छाकर चन्द्रादित्य !

तरसूं मुझनी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी ,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी वारी ।

वुंदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप ,
 उठती हैं वे भाप-सी गिरकर अपने आप !

न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो नचे ,
 न सकुचित हो कही, मुदित लास्य-लीला रचे ।
 बनूं न पर-विघ्न में बस मुझे अवाधा यही ,
 विराग अनुराग मे अहह ! इष्ट एकान्त ही ।

इन्द्रवधू आने लगी वयो निज स्वर्गं विहाय ?
 नन्ही दूवा का हृदय निकल पड़ा यह हाय !

बता मुझे नख रजनी, तू विस्त भाँति अरी ।
 होकर भी भीतर अरण बाहर हरी हरी ?

अवसर न सो निठली ,
 बढ़ जा, बढ़ जा, विटपि-निकट बली ,
 अब छोड़ना न लली ,
 कदम्ब-ग्रन्थलम्ब तू मली ।

प्रिविघ पवन ही था, आ रहा जो उन्ही-सा ,
 यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्ही-सा !

प्रिय सहश्र हँसा जो, नीप ही था, कहाँ वे ?
 प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्ही-सा !

सफल है, उन्हीं धनों का घोप,
 वंश वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, सन्तोष ।
 नभ में आप विचरते हैं जो,
 हरा धरा को करते हैं जो,
 जल में मोती भरते हैं जो,
 अक्षय उनका कोप ।
 सफल है, उन्हीं धनों का घोप ।

'नंगी पीठ' वैठकर घोडे को उड़ाऊँ कहो,
 किन्तु डरता हूँ मैं 'तुम्हारे इस भूले से,
 रीक सकता हूँ ऊर्ध्वों के बल से ही उसे,
 दूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से ।
 किन्तु क्या करूँगा यहाँ !' उत्तर मे मैंने हँस
 और भी बढ़ाये पैग दोनों ओर ऊले - से,
 'हँ-हँ' कह लिपट गये थे यही प्राणेश्वर,
 बाहर से संकुचित, भीतर से फूले - से !

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये,
 फल कामना नहीं थी, चढ़ा सकी फूल भी न मनभाये !

कुलिश किसीपर कडक रहे हैं,
आलो, तोयद तडक रहे हैं।

कुछ वहने के लिए लता के
प्रश्नण अधर वे फडक रहे हैं।

मैं वहती हैं—रहें किसीके
हृदय वही जो घटक रहे हैं।
अटक अटककर, भटक भटककर,
भाव वही जो भटक रहे हैं!

निज अलिन्द मे खडी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थी घटा छाई थी,
मक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर,
मिली-भनवार यही मेरे मन भाई थी।
जरने लगी मैं अनुकरण स्वनूपरो से,
चचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
रींक देखा मैंने, चुप कोने मे खडे ये प्रिय,
माई ! मुख-लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी !

तम मे तू भी कम नहीं, जो, जुगनू, बडभाग,
भवन भवन मे दीप हैं, जा वन वन मे जाग !

हा ! वह सहृदयता भी कीड़ा में है कठोरता जड़िता ,
तड़प-तड़प उठती है स्वजनि, घनालिंगिता तड़िता !

गाढ़ तिमिर की बाढ़ में इब्र रही सब सृष्टि ,
मानो चक्र में पढ़ी चकराती है दृष्टि ।

लाई सत्ति, मालिनें थी डाली उस बार जब ,
जम्बूफल जीजी ने लिये थे, तुझे याद है ?
मैंने थे रसाल लिये, देवर खडे थे वही ,
हँसकर बोल उठे—'निज निज स्वाद है ।'
मैंने कहा—'रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर ?'
बोले—'देवि, दोनों ओर मेरा रस-वाद है ,
दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं' हाय आती ! आज
विधि के प्रमाद से विनोद भी विपाद है !

निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि-पानी ,
सुखा विच्चित्राम्बर सृष्टिरानी !
तथापि वया मानस रिक्त तेरा ?
बना अभी अंचल सिक्क मेरा ।

। सखि, छिन धूप और छिन आया ,
यह सब चौमासे की माया ।

गया श्वास फिर भी यदि आया ,
तो सजोव है कृश भी काया ।
हमने उनको रोक न पाया ,
तो निज - दर्शन - योग गमाया ।

• ले लो, दैव जहाँ जो लाया ।
यह सब चौमासे की माया ।

पथ तक जकडे हैं झाडियाँ डाल धेरा ,
उपवन वन-सा हा हो गया आज मेरा ।
प्रियतम वनचारी गेह मे भी रहेगे ,
कह सखि, मुझसे वे लीटके क्या कहेगे ?

करे परिष्कृत मालिनें आली, यह उद्यान ,
करते होगे गहन मे प्रियतम इमका ध्यान ।
ठीक कहा तूने सखि, अर्पित है यह देह ,
तू संभालकर रख इसे रखती है ज्यो गेह ।

रह चिरदिन तू हरी - भरी ,
 बढ़, मुख से बढ़ सृष्टि - सुन्दरी ,
 सुध प्रियतम की मिले मुझे ,
 फल जन - जीवन - दान का तुझे ।

हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो ,
 हँसो, हिंडोरे पर बैठ मूलो ।
 यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ ,
 भड़ो लगा दूँ, इतना पिये हूँ ।

प्रकृति, तू प्रिय को स्मृति-सूति है ,
 जड़ित चेतन की श्रुटि-पूर्ति है ।
 रख सजोव मुझे मन की व्यथा ,
 कह सखो, कह, तू उनकी कथा ।

निरख सखो, ये खंजन आये
 केरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये
 फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरभाये
 धूमें वे इस ओर वहाँ, ये हँस यहाँ उड छाये
 करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये
 फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक मुहाये
 स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये
 नम ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्ध्य भर लाये

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही दिये दूब ने भेट ,
उन्हे बनाकर रत्न-करण रवि ने लिया समेट ।

प्रिय को था मैंने दिया पश्च-हार उपहार ,
वोले—‘आभारी हुआ पाकर यह पद-भार !’

अम्बु, अवनि, अम्बर मे स्वच्छ शरद की पुनीत कीड़ा-सी ,
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त-पीड़ा-सी !

हुआ विदीर्ण जहाँ तहाँ इवेत आवरण जीर्ण ,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण !

शफरी, अरी, बता तू

तड़प रही क्यों निमग्न भी इस सर में ?

→ रस निज गागर में ,

सो रस-गोरस नहीं स्वयं सागर में ।

भ्रमरी, इस मोहन मानस के

सुन, मादक हैं रस-भाव सभी ,

मधु पीकर और मदान्ध न हो ,

उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी ।

→ पड़ जाय न पक्ज-वन्धन में ,

निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी ,

दिन देस नहीं सकते सविशेष

किसी जन का सुखभोग कभी !

इस उत्पल - से काय मे हाय ! उपल - से प्राण ?
रहने दे वक, ध्यान यह, पावे ये दृग त्राण !

हस, छोड़ आये कहाँ मुक्ताश्रो का देश ?

यहाँ बन्दिनी के लिए लाये क्या सन्देश ?

हस, हहा ! तेरा भी विगड गया क्या विवेक बन बनके ?
मोती नही, अरे, ये आँसू हैं ऊर्मिला जन के !

चलो क्रीचमाला कहाँ लेकर बन्दनवार ?

किस सुकृती का द्वार वह, जहाँ मगलाचार !

सखि, गोमुखी गगा रहे, कुररीमुखी करणा यहाँ,
गगा जहाँ से आ रही है, जा रही करणा वहाँ !

कोक, शोक मत कर हे तात ,
कोकि, कट मे हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात ।
धीरज धर, अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात ,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख - सुहाग की रात !

हाँ मेरे ! कुखो का झूजन रोकर, निराश होकर सोया ,
यह चन्द्रोदय उसको उडा रहा है धबल वसन - सा धोया ।

नैश गगन के गात्र मे पडे कफोले हाय ।
तो क्या अरी न आह भी करुं आज निरुपाय ?

तारक-चिह्नदुक्षिणो पी पीकर मधु मात्र ,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र ।

[२]

आलि, काल है काल अन्त मे ,
उष्ण रहे चाहे वह शोत ,
। आया यह हैमन्त दयाकर ,
देख हमे सन्तप्त-सभीत ।

आगत का स्वागत समुचित है, पर क्या आँसू लेकर ?
'प्रिय होते तो लेती उसको मैं धो-गुड दे देकर ।
पाक और पकवान रहे, अब
गया स्वाद का अवसर थीत ,
आया यह हैमन्त दयाकर ,
देख हमे सन्तप्त-सभीत ।

हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा ,
करता रह प्रतिवर्ष यहाँ तू फिरूँ फिर अपना केरा ।

व्याज-सहित रुहण भर दूँगी मैं ,

आने दे उनको हे मीत ,

आया यह हेमन्त दयाकर ,

देख हमे सन्तप्त सभीत ।

सी-सी वरती हुई पाश्व मे पाकर जब-तब मुझको ,

अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको ।

कबल ही सबल है अब तो ,

ले आसन ही आज पुनीत ,

आया यह हेमन्त दयाकर ,

देख हमे सन्तप्त-सभात ।

बालागुरु की सुरभि उडाकर मानो मगल तारे ,

हँसे हसन्ती मे सिल खिलकर अनल कुसुम आगारे ।

आज धुकधुकी मैं मेरी भी

ऐसा ही उदीप्त अतीत ।

आया यह हेमन्त दयाकर ,

देख हमे सन्तप्त सभीत ।

अब आतप-सेवन मे कौन तपस्या, मुझे न यो छल तू ,
तर्प पानी मे पंठा, सखि, चाहे तो वही चल तू ।

नाइन, रहने दे तू, तेल नहीं चाहिए मुझे तेरा,
तनु चाहे रुखा हो, मन तो सुस्नेह पूर्ण है मेरा।

मेरी दुर्बलता क्या

दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण मे ?
देख, निरख मुख मेरा
वह तो धुंधला हुआ स्वय ही क्षण मे !
एक अनोखी मैं ही
क्या दुबलो हो गई सखी, घर मे,
देख, पेंद्रिनी भी तो
आज हुई नालगेप निज सर मे ।

पूछो यी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से—

कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?
बोले—“इस बार देवि, देखने मे भूमि पर
दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की !”
पूछा यही मैंने एक ग्राम मे तो कर्पंको ने
अन्न, गुड, गोरस की बृद्धि ही बखान की,
किन्तु “स्वाद कैसा है, न जानें, इस वर्ष हाय !”
यह वह रोई एक अबला किसान की ।

हम राज्य लिए मरते हैं ?
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्पंक ही करते हैं ।

जिनके देतों में है अन्न ,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव-न्वैभव भरते हैं ,
हम राज्य लिए मरते हैं !

वे गो-धन के धनी उदार ,
उनको सुलभ मुधा की धार ,
सहनशीलता के आगर वे अम-सागर तरते हैं ।
हम राज्य लिए मरते हैं !

यदि वे करें, उचित है गर्व ,
बात बात में उत्ताव-पर्व ,
हम-से प्रहरी रक्षक जिनके, वे किससे ढरते हैं ?
हम राज्य लिए मरते हैं !

करके मीन-मेरा सब ओर ,
किया करे बुध बाद कठोर ,
शायामयी बुद्धि तजकर वे मूल-वर्म धरते हैं ।
हम राज्य लिए मरते हैं ।

होते कही वही हम लोग ,
कोन भोगता फिर ये भोग ?

उन्ही अननदाताओं के सुख आज दुख हरते हैं ।
हम राज्य लिए मरते हैं ।

प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार ,
मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य, तुम्हे धिक्कार ।

‘चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभग ,
धूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के सग ।
प्रियतम प्रभु के सग आयेंगे तब हे सजनी ,
अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी ।
पर पल पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर ,
कलह मूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर !

सिकुडा सिकुडा दिन था, सभीत-सा शीत के कसाले से
सजनी, यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से

आये सखि, द्वार-पटो हाथ से हटाके प्रिय
वचक भी वचित - से कम्पित विनोद मे ,
'ओढ देखो तनिक सुम्ही तो परिघान यह'
बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में ।

क्या हुमा, उठी मैं झट प्रावरण छोड़कर
 परिणत हो रहा या पवन प्रतोद में,
 हर्षित ये तो भी रोम रोम हम दम्पत्ति के
 कर्पित ये दोनों याहु-बन्धन के मोद में।

करती है तू शिशिर का बार बार उल्लेख,
 पर सखि, मैं जल-भी रही, घुर्णाधार यह देख !

सचमुच यह नीहार तो अब तू तनिक निहार,
 अन्धकार भी शीत से श्वेत हुमा इस बार !

कभी गमकता या जहाँ कस्तूरी का गन्ध,
 चौंक चमकता है वहाँ आज मनोमृग अन्ध !

शिशिर, न फिर गिरिन्वन में,
 जितना माँगे, पतझड दैंगी मैं इस निज नन्दन में।
 कितना कम्पन तुके चाहिए, ले मेरे इस तन में।
 सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?
 बीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
 तो मोती-सा मैं अकिञ्चना रखूँ उसको मन में।
 हँसी गई, रो भी न राकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,
 तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या ही भाव-भुवन में !

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा ,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा ।

भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?
तैक भरोखे से न, लौट जा, गूँजें तुझमे तार जहाँ ।

मेरी बोणा गीली गीली ;
आज हो रही ढीली ढीली ;
लाल हरी तू पीली नीली ;
कोई राग न रग यहाँ ।

भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?
शीत काल है और सबेरा ;
उछल रहा है मानस मेरा ;
भरे न छीटों से तनु तेरा ;

((रुदन जहाँ क्या गान वहाँ ?
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?

मेरी दशा हुई कुछ ऐसी ;
तारों पर अँगुली को जैसी ;
कसक परन्तु मीड भी कैसी ?

कह सकती है नहीं न हाँ !
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?

न तो अगति ही है न गति, आज किसी भी ओर,
इस जीवन के भाड़ मे रही एक भक्भोर !

पाऊँ मैं तुम्हे आज, तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

फूल और फल-निमित्त,
बल देकर स्वरस-वित्त,
लेकर निश्चन्त चित्त,
उड न हाय ! जाओ,
लूँ मैं अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

तुम हो नीरस शरीर,
मुझमे है नयन-नीर,
इसका उपयोग बोर,
मुझबो बनलाओ ।
लूँ मैं अचल पसार, पीतपत्र, आओ ।

जो प्राप्ति हो फूल तथा फलो को,
मधूक, चिन्ता न करो दलो को ।
हो लाभ पूरा पर हानि योही,
हुआ करे तो वह भी निगोही ।

श्लाघनीय हैं एक - से, दोनों ही द्युतिमन्त ,
 'जो वसन्त का आदि है, वही शिशिर का अन्त ।

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है ,
 भुवन तो मन के अनुरूप है ।
 हँसित कुन्द रहे कवि का कहा ,
 सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा !

हाय ! अर्थ की उछण्टा देगो किसे न ताप ?
 घनद-दिशा मे तप उठे, आतप-पति भी आप ।

अपना सुभन लता ने

निकालकर रख दिया, विना बोले ,
 आलि, कहाँ वनमाली ,
 झड़ने के पूर्व भाँक ही जो ले ?

काली काली कोइल बोली—
 होली—होली—होली !

हँसकर लाल लाल होठों पर हरयाली हिल डोली ,
 फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पोली पीली चोली ।
 होली—होली—होली !

अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद औंखियाँ खोली ,
मल दी ऊपा ने अम्बर मे दिन के मुख पर रोली ।

होली—होली—होली !

रागी फूलो ने पराग से भर ली अपनी भोली ,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट मे घोली ।

।

होली—होली—होली !

ऋतु ने रवि-शशि के पलडो पर तुल्य प्रकृति निज तोली ,
सिहर उठी सहसा क्यो मेरी भुवन-भावना भोली ?

होली—होली—होली !

गूंज उठी लिलती कलियो पर उड अलियो की टोली ,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली ।

होली—होली—होली !

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप ,
लगे न लू होकर कही तू अपने को आप !

भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अगूर ,
लेना चम्पक - गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर ।

सहज मातृगुण गन्ध था कर्णिकार का भाग ;
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग !

मुझे फूल मत मारो ,
 मैं अबला वाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो ,
 होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु, गरल न गारो ,
 मुझे विकलता, तुम्हे विफलता ठहरो, श्रम परिहारो ।
 नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो ,
 बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हरनेन निहारो !
 रूप-दर्पन कन्दर्प, तुम्हे तो मेरे पति पर वारो,
 लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो ।

फूल ! खिलो आनन्द से तुमपर मेरा तोप ;
 इस मनसिज पर ही मुझे दोप देखकर रोप ।

आई हैं सशोक मैं शशोक, आज तेरे तले ,
 आती है तुझे क्या हाय ! सुध उस बात की ।
 प्रिय ने कहा था—‘प्रिये, पहले ही फूला यह ,
 भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की ।’
 देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर ,
 वक्ष भर मैंने भी हँसी यो अकस्मात की—
 ‘भूलते हो नाथ, फूल फूलते कैसे, यदि
 ननद न देती प्रीति पद-जलजात की ।’

सूखा है यह मुख यहाँ, सूखा है मन आज ,
किन्तु सुमन-मकुल रहे प्रिय का वकुल-समाज ।

कहैं बडाई फूल की या फल की चिरकाल ?
फूला - फला यथार्थ मे तू ही यहाँ रसाल ।

देखूँ मैं तुझको सत्रिलाम ,
खिल सहस्र दल, सरस, सुवास ।

अतुल अम्बुकुल-सा अमल भला कौन है अन्य ?
अम्बुज, जिसका जन्य तू धन्य, धन्य, ध्रुव धन्य ।

साधु सरोवर-विभव-विकास ।

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

बब फूलो के साथ फल, फूल फलो के साथ ?

तू ही ऐसा फूल है फल है जिसके हाथ ।

ओ मधु के अनुपम आवास ,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

एक मान उपमान तू, हैं अनेक उपमेय ,

रूप - रग, गुण - गन्य मे तू ही गुरुलम गेय ।

ओ उन अगो के आभास ।

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास ।

तू मुषमा का कर कमल, रति-मुखाव्ज उद्गीव ;
तू लोला - लोचन नलिन, ओ प्रभु - पद राजोव !

रच लहरो को लेकर रास,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास !

सहज सजल सौन्दर्य का जीवनधन तू पद्म,
आर्य जाति के जगत की लक्ष्मी का शुभ सद्म !

क्या यथार्थ है यह विश्वास,

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास !

रहकर भी जल - जाल में तू अलिप्त अरविन्द,
फिर तुझपर गूँजे न क्यों कविजन-मनोमिलिन्द !

कौन नहीं दानी का दास ?

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास !

तेरे पट है सोलता आकर दिनकर आप,
हरता रह निष्पाप तू हम सबके सन्ताप !

ओ मेरे मानस के हास !

खिल सहस्रदल, सरस, सुवास !

पेठी है तू पद्मपदी, निज सरसिज में लीन ;
सप्तपदी देकर यहाँ बैठी मैं गति - हीन !

विखर कलो झडती है, कव सोखी किन्तु सकुचित होना ?
संकोच किया मैंने, भीतर कुछ रह गया, यही रोना !

अरी, गूँजती मधुमखी ,
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रखी ?
किसका सचय देव सहेगा ?
काल धात मे लगा रहेगा ,
ब्याध बात भी नहीं कहेगा ;
लूटेगा घर लवखी ।
अरी, गूँजती मधुमखी ।
इसे त्याग का रंग न दीजो ,
अपने थ्रम का फल है, लीजो ,
जयजयकार कुमुम का कीजो ,
जहाँ सुधा-सी चक्खी !
अरी, गूँजती मधुमखी !

खि, मैं भव-कानन मे निकली ,
वनके इसकी वह एक कली ,
खिलते खिलते जिससे मिलने
उड़ आ पहुँचा हिल हेम - अली ,

मुसकाकर आलि, लिया उसको ,
 तब लौ यह कौन वयार चली ,
 'पथ देख जियो' कह गूंज यहाँ
 किस ओर गया वह छोड छला ?

छोड, छोड, फूल मत तोड, आली, देख मेरा
 हाथ लगते हो यह कैसे कुम्हलाये हैं ?
 कितना विनाश निज क्षणिक विनोद मे है ,
 दुखिनी लता के लाल आँसुओ से छाये हैं ।
 किन्तु नही, डुन ले सहयं खिले फूल सब
 रूप, गुण, गन्ध से जो तेरे मनभाये है ,
 जाये नही लाल लतिका ने भडने के लिए ,
 गौरव के सग चढने के लिए जाये हैं ।

कैसी हिलती डुलती अभिलापा है कली, तुझे खिलने की ,
 जैसी मिलती जुलती उच्चाशा है भली मुझे मिलने की ।

मान छोड दे, मान अरी ,
 कली, अली आया, हँसकर ले, यह वेला फिर कहाँ धरी ?
 सिर न हिला भोको मे पढकर, रख सहृदयता सदा हरी ,
 छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी !

भिन्न भी भाव-भगी में भाती है रूप-सम्पदा ,

फूल धूल उड़ाके भी आमोदप्रद है सदा ।

फूल, रूप-गुण में कही मिला न तेरा जोड़ ,

फिर भी तू फल के लिए अपना आसन छोड़ ।

सखि, विसर गई हैं कलियाँ ;

कहाँ गया प्रिय भुकामुकी में करके वे रंग - रलियाँ ।

भुला सकेगी पुनः पवन को अब क्या इसकी गलियाँ ?

यही बहुत, ये पचे उन्हीमे जो थी रंगस्थलियाँ ।

कह क्या अपनी इस ध्राण से ,

उड गये मधु - सौरभ प्राण-से ।

फल मिले हमको-तुमको सखी ,

तदपि वीज रहें सब त्राण से ।

उठती है उर में हाय ! हूक

ओ कोइल, कह, यह कौन कूक !

क्या ही सकरण, दारण, गभीर ,

निकली है नभ का चित्त चौर ,

होते हैं दो दो हृग सनीर ,

लगती है लय की एक लूक !

ओ कोइल, वह, यह कौन कूक ?

तेरे क्रन्दन तक मे सु-गान ,
सुनते है जग के कुटिल कान ,
लेने में ऐसा रस महान ।

हम चतुर करें किस भाँति चूक ।
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक ?
रो, आवेगा फिर भी वसन्त ,
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त ।
दुःखों का भी है एक अन्त ,
हो रहिए दुर्दिन देख सूक ।
ओ कोइल, कह, यह कौन चूक ?

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैंने लिया ,
दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया रो दिया !

हे मानस के मोती, ढलक चले तुम कहाँ विना कुछ जाने ?
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने ?

न जा अधीर धूल में ,
दृगम्बु, आ, 'दुक्ल मे ।

रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल मे ,
मेरे भाव आँसुओं में हैं, और लता के फूल में ।
दृगम्बु, आ, दुक्ल में ।

फूल और आँखू दोनों ही उठें हृदय की फूल में,
मिलन सूत्र सूची से कम क्या अनी विरह के दूल में
दृगम्बु आ, दुकूल में
मधु हँसने में, लवण रदन में, रह न बोई भूल में
मोज किन्तु मँझार बीच है किंवा है वह दूल में ।
दृगम्बु, आ, दुकूल में ।

नयनों को रोने दे, मन, तू सकीरण न वन, प्रिय बैठे हैं
आँखों से ओमल हो, गये नहीं वे कटी, यहीं पैठे हैं ।
आँख, बता दे तू ही, तू हँसती या मथार्थ रोती है ।
तेरे अवर-दयन ये, या तू भर अशु विन्दु ढोती है ।

बने रहो मेरे नयन, मातसजल में लीन, ।
माना है प्रिय ने तुम्हे अपना क्रीडा-मीन ।

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मैं सुध करके रोती ॥
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे गेने में मोती ॥

मानती है, तुम मेरे साध्य,
अहनिशि एव मात्र आराध्य,
साधिका मैं भी किन्तु अवाध्य,
जागती होऊँ, या सोनी ।

तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती ।

सफल हो सहज तुम्हारा त्याग ,
नहीं निष्फल मेरा अनुराग ,
सिद्धि है स्वयं साधना-भाग ,

मुधा क्या, क्षुधा जो न होती ।

तुम्हारे हँसने मे है फूल, हमारे रोने मे मोती ।

काल की रुके न चाहे चाल ,

मिलन से बढ़ा विरह का काल ;

वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल ।

दृष्टि मैं दर्शनार्थ धोती ।

तुम्हारे हँसने मे हैं फूल, हमारे रोने मे मोती ।

अर्थ, तुम्हें भी हो रहो पदप्राप्ति की चाह ?

क्या इस जलते हृदय मे नहीं और निर्वाहि ?

स्वजनि, रोता है मेरा गान ,
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तात ।

फिलता नहीं समीर पर इस जी का जजाल ,

झड़ पड़ते हैं शून्य मे विखर सभी स्वर-ताल ।

विफल आलाप - विलाप समानँ,

स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

उठने को है तटपता मेरा भावानन्द ,
व्यर्थ उसे पुचकारकर फुसलाते हैं द्वन्द ।

दिलाकर पद-गौरव का व्यान ।

स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात ,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रही दिन-रात ।

जना दते हैं सभी अजान ,
स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

दुख भी मुझसे विमुख हो करें न कहो प्रयाण ,
आज उन्हींमे तो तनिक अटवे हैं ये प्राण ।

विरह मे आ जा, तू ही मान ।
स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

यही आता है इस मन मे ,
छोड़-घास-बन जाकर मैं भी रहैं उसी बन मे ।

प्रिय के ब्रत मे विन्न न डालूँ, रहैं निकट भो दूर ,
व्याध रहे, पर साथ साथ ही समाधान भरपूर ।

हर्ष छूवा हो गोदन मे , । १
यही आता है इस मन मे ।

यीच दीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट ,
जब वे निकल जायें तब लेटूँ उसी धूल में लोट ।
रहे रत वे निज साधन में ,
यही आता है इस मन में ।

जाती जाती, गाती गाती, कह जाऊँ यह बात—
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात ।

प्रेम की ही जय जोवन में ।
यही आता है इस मन में ।

अब जो प्रियतम को पाऊँ !
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ !
ग्राप अवधि वन सकूँ कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ ।
उपा-सो शाई थी जग में, सन्ध्या-सो क्या जाऊँ ?
शान्त पवन-सो वे आवें मैं सुरभि-समान समाऊँ !
मेरा रोदन मचल रहा है, कहसा है, कुछ गाऊँ ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ !
इधर अनल है और उधर जल, हाय ! किपर मैं जाऊँ ?
प्रबल वाष्प, कट जाय न यह घट, कह तो हाहा खाऊँ ?

उठ अवार न पार जाकर भी गई ,
ऊमि है मैं इस भवार्णव की नई !

अटक जीवन के विशेष विचार मे ,
भटकतो फिरतो स्वयं मँभधार में ,
सहज कर्पण कूल, कुण्ड, कछार मे ,
विप्रभता है किन्तु वायु-विकार मे ,
और चारों ओर चक्कर हैं कई ,
ऊमि है मैं इस भवार्णव की नई !

पर विलीन नही, रहै गतिहीन मैं ,
दैन्य से न दबूं कभो, वह दीन मैं)
अति अवश्य हैं, किन्तु आत्म-अधोन मैं ,
सखि, मिलन के पूर्व ही प्रिय-लीन मैं ।
कर सका सो कर चुका अपना दई ,
ऊमि है मैं इस भवार्णव की नई !

आये एक वार प्रिय बोले—‘एक बात कहूं
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान मैं !
मैंने कहा—‘कौन यहाँ?’ बोले—‘प्रिये, चित्र तो हैं,
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान मे ।

लाल किये कण्ठमूल होठो से उन्होने कहा—

‘वया कहूँ सगदगद हूँ, मैं भी द्वद्वान में;
कहते नहीं हैं, करते हैं कृती !’ सजनी मैं
क्षीझ के भी रीझ ! उठी उस मुसकान में !

मेरे चपल धौवन-बाल !

अचल अंचल में पड़ा सो, मचलकर भत साल,
बीतने दे रात, होगा मुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहनके मणि-माल !
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे चुरम्य-रसाल,
डरन, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल !
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
मेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

यही वाटिका थी, यही थी मही,
यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही !
यही बल्की मैं लिये गोद में,
उसे छेड़ती थी महामोद में !
यही कण्ठ था, कौन-सा गान था ?—
'न था दुर्गं तू, मानिनी-मान था !'

यही टेक में तन्मयी छोर से ,
 लगी छेडने कान्त की ओर से ।
 अकस्मात् निःशब्द आये जयी ,
 मनोवृत्ति थी नाथ की मन्मयी ।
 सखी, आप ही आप वे हँसे—
 'वडे वीर थे, आज अच्छे फंसे !'
 हँसी में, अजी, मानिनो तो गई ,
 वधाई ! मिली जीत यो ही नई !
 'प्रिये, हार मे ही यहाँ जीत है । ।
 रुका क्यों तुम्हारा नया गीत है ?'
 जहाँ आ गई चाप - टकार है ,
 वहाँ व्यर्थ - सो आप भक्तार है ।
 'प्रिये, चापन्टकार तो सो रही ,
 स्वयं मग्न भक्तार मे हो रही !'
 भला !—प्रश्न है किन्तु ससार मे—
 भली कौन भक्तार - टकार में ?
 'शुभे, धन्य भक्तार है धाम मे ,
 रहे किन्तु टकार सग्राम में ।
 इसी हेतु है जन्म टंकार का ,
 न दूटे कभी तार भक्तार का ।

यहो ठीक, टकार सोती रहे ,
 सभो और भकार होती रहे ।
 मुझो, किन्तु है लोभ ससार मे ,
 इसी हेतु है क्षोभ ससार में ।
 हमें शान्ति का भार जो है मिला ,
 इसी चाप को कोटियो से भिला ।'

हुआ,—किन्तु कोदण्ड-विद्या-कला ,
 भुजे व्यर्थ, क्यों और सीखूँ मला ?
 भले ऊमिला के लिए गान्‌ये ,
 विवादी स्वरों से बचें कान्‌ये ।
 कहैं शिष्यता क्यों तुम्हारो ग्रहो ,
 वन्‌ तात्रिकी शिक्षिका जो ग्रहो ।
 ग्गों को धरो तो सही चाप से ,
 हो, सीच लूँ मैं स्वरालाप से !
 प्रभो सीच ही जो लिया है ! रहो ,
 नी शिष्य से शिक्षिका, क्यों न हो !
 म्हारी स्वरालाप-धारा वहे ,
 ड़ा कूल मैं चाप मेरा रहे ।'

इसी भौति आलाप-संलाप में ,
 (न ऐसे महाशाप में, ताप मे ,)
 हमारा यहाँ काल या वीतता ,
 न सन्तोष का कोश या रीतता ।
 हरे ! हाय ! क्या से यहाँ क्या हुआ ? ।
 उड़ा ही दिया मन्यरा ने सुआ ।
हिया-पीजरा शून्य माँ को मिला ,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला ।

.. आ वह जो देवा, देखूँगी फिर क्या करी ?
 इस प्रत्यक्ष से मेरा परिवारण कहाँ ! अभी ?

कूड़े से भी आगे
 पहुँचा अपना अहृष्ट गिरते गिरते ,
 दिन वारह वर्षों मे
 धूड़े के भी सुने गये हैं फिरते !

रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया ,
 अब अलभ्य वहाँ विष हो गया !
मरण-जीवन की यह संगिनी
वन सकी वन की न विहंगिनी !

सखि, यहाँ सब ओर निहार तू ,
 किर विचार अतीत विहार तू ।
 उदित - से सब हास - विलास है ,
 हृदित-से सब किन्तु उदास है ।
 स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ ,
 कुशल तो, अपनापन खो सकूँ ।
 शपथ है उपचार न कीजियो ,
 अवधि को मुघ ही तुम लीजियो ।
 वस इसी प्रिय-कानन-कुञ्ज में ,
 मिलन-भाषण के स्मृति-पुञ्ज में ,
 अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो ,
 हसन-रोदन से न पसीजियो ।
 सखि, न मृत्यु न आधि, न व्याधि ही,
 समझियो तुम स्वप्न-समाधि ही ।
हहह ! पागल हो यदि ऊमिला ,
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला !
 प्रिय यहाँ बन से जब आयेंगे ,
 सब विकार स्वयं मिट जायेंगे ।
 न सपने सपने रह पायेंगे ,
 प्रकटता अपनी दिखलायेंगे ।

अब भी समझ वह नाथ, खडे,
 बढ़ किन्तु रिक्त यह हाथ पडे ।
 न वियोग है न यह योग सखी,
 कह, कौन भाग्य-भय भोग सखी ?

विचारती हूँ सखि, मैं कभी कभी ।
अरण्य से हैं प्रिय लौट आते ।
छिपे छिपे आकर देखते सभी
कभी स्वय भी कुछ दीख जाते ।

‘ आते यहाँ नाथ निहारने हमे,
 उद्धारने या सखि, तारने हमे ?
या जानने को, किस भाँति जी रहे ?
तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे ।

सखि, विचार कभी उठता यही—
अबधि पूर्ण हुई, प्रिय आ गये ।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही,
वह वही, पर आज नये नये ?

निरखतो सखी, आज मैं जहाँ ,
 दयति - दीसि ही दोखतो वहाँ ।
 हहह ! ऊमिला आन्त है रहे ,
 यह असत्य तो सत्य भी वहे ।
 ज्वलित प्राण भी प्राण पा गये ,
 सुभग आ गये, कान्त, आ गये !
 निकल हस - से केकि - कुञ्ज से ।
 निरख वे खड़े प्रेम - पुञ्ज - से !
 रुचिर चन्द्र की चन्द्रिका खिली ,
 निज अशोक से माधवी मिली ।
 अवधि होगई पूर्ण अन्त में ,
 सुयश छा रहा है दिगन्त में ।
 स्वजनि, बन्य है आज को घडो ,
 तदपि सिन्ध - सी तू यहाँ खड़ी !
 त्वरित आरती ला, उतार लूँ ,
 पद हृगम्बु से मैं पखार लूँ ।
 चरण हैं भरे देख, धूलं से ,
 विरह - मिन्धु में प्राप्त कूल - से ।
 विकट वया जटाजूट है वना ,
 भृकुटि युग्म में चाप - सा तना ।

वदन है भरा मन्द हास मे,
 गलित चन्द्र भी श्री - विलास से ।
 ललित कन्धरा, कण्ठ कम्बु - सा ,
 नयन पद्म - से, ओज अम्बु - सा ,
 तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है,
 सुलभ योग है और क्षेम है।
 उदित ऊमिला - भाग्य धन्य है ,
 अब कृती वहाँ कौन अन्य है !

विजय नाथ की हो सभी कही ,
 तदपि क्यों खड़े हो गये वही ?
 प्रिय, प्रविष्ट हो, द्वार मुक्त है ,
 मिलने - योग तो नित्य युक्त है।
 तुम महान हो और हीन मैं ,
 तदपि, धूल - सी अधिनीन मैं।
 दयति देखते देव भक्ति को ,
 निरखते नहीं नाथ, व्यक्ति को ।
 तुम बड़े, बने और भी बड़े ,
 तदपि ऊमिला - भाग मे पड़े ।

अब नहीं, रही दीन मैं कभी,
 तुम मुझे मिले तो मिला सभी ।
 प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
 कि जिनके लिए या मुझे तजा ?
 वह नहीं फिरे ? क्या तुम्हीं फिरे ?
 हम गिरे अहो ! तो गिरे, गिरे ।
 दयित, क्या मुझे आर्त जानके,
 अधिप ने अनुकोश मानके,
 घर दिया तुम्हे भेज आप ही ?
 यह हुआ मुझे और ताप ही ।
 प्रिय, फिरो, फिरो हा ! फिरो, फिरो !
 न इस मोह की धूम से धिरो ।
 विकल मैं यहाँ, किन्तु गविणी,
 न कर दो मुझे नष्टपर्वणी ।
 घर फिरे तुम्हीं मोह से कही
 तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं ?
 च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा,
 धिक ! वृथा हुई ऊमिला-व्यथा ।
 ममय है अभी, हा ! फिरो, फिरो ,
 तुम न यो यश-स्वर्ग से गिरो ।

प्रभु दयालु है, लौट के मिलो,
न उनके कुटीद्वार से हिलो।
निरखतो अभी एरु मान मैं,
पर अभिज्ञ हूँ, अद्व गात्र मैं।
यह सखी मुझे मत्त मानती,
कुशल मैं यही आज जानती।
अवश रो रहे प्राण ये धूंसे,
तदपि कौन है, जो मुझे हँसे ?
अब हँसी न हो, और क्या कहूँ ?
तुम न्रती रहो, मैं सती रहूँ।

धिक ! तथापि हा सामने खडे ?
तुम अलज्ज से क्यो यहाँ अडे ?
जिधर पीठ दे दीठ फेरती,
उधर मैं तुम्हे ढीठ, हेरती !
तुम मिलो मुझे धर्म छोड़के,
फिर मर्है न क्यो मुण्ड फोड़के ?
यह जरीर लो, प्राण ये बुझे,
धरन हा सखी, छोड दे मुझे।

स्वजनि, क्या कहा—‘वे यहाँ वहाँ ?’
 तदपि दीखते हैं जहाँ तहाँ ?
 यह यथार्थ उन्माद, भ्रान्ति है ?
 ठहर तो मिटा क्षोभ शान्ति है।
 धिक ! प्रतीत भी की न नाथ की,
 पर न थी सखी, वात हाथ की।
 प्रतिविधान मैं क्या करूँ बता,
 इस अनर्थ का भी कही पता !
 अधम ऊमिले, हाय निर्दया !
 पतित नाथ हैं ! तू सदाशया ?
 नियम पालती एक मात्र तू,
 सब अपात्र हैं, और पान तू ?
 मुहूँ दिखायगी क्या उन्हे परी,
मर ससशया, क्यो न तू मरी !
 सदय वे, बता किन्तु चचला,
 वह क्षमा सही जायगी भला ?

विसरता नहीं न्याय भी दया,
 वस रहो प्रिये, जान मैं गया।

तुम अधीर हो तुच्छ ताप मे ,
 रह सकी नही आप आपमे ।
 न उस धूप मे और मेह मे ,
 तुम रही यहाँ राजगेह मे ।
 विदित वया तुम्हे, देवि, वया हुआ ,
 रधिर स्वेद के स्प मे चुआ ।
विपिन मे कभी सो सका न मै ,
 अधिक वया वहूँ, रो सका न मै ।
 वचन ये पुरस्कार मे मिले ,
 अहह मिले । हाय उमिले ।
 गिन सको, गिनो शूल, जो चुभे ,
 सहज है समालोचना शुभे ।
 कठिन साधना किन्तु तत्व वी ,
 प्रथम चाहिए सिद्धि सत्व वी ।
 कठिन कर्म का क्षेत्र या वहाँ ,
 पर महाँ ? कहो देवि, वया यहाँ ?
 उलहना कभी दैव को दिया ,
 बहुत जो किया नेक रो लिया ।
 सतत पुण्य या पाप सगिनो ,
 समझता रहा आत्मअगिनी ।

स्वपति-पुण्य ही इष्ट या तुम्हे ,
 कहु मुझे, तथा मिष्ट या तुम्हे ?
 प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं ? भला !
 मत छुझो मुझे, लौट मैं चला !
 तुम सुखो रहो हे विरागिनी ,
 वस विदा मुझे पुण्यभागिनी !
 हट सुलझाए, रोक तू न यो ,
 पतित मैं, मुझे टोक तू न यो !
 विवश लक्—'नहीं, ऊमिला हहा !'
 किवर ऊमिला ? आलि, कथा कहा ?

फिर हुई यहा ! मत ऊमिला ,
 सखि, प्रियत्व या क्या मुझे मिला ?
 मह वियोग या रोग, जो कहे ,
 प्रियमयी सदा ऊमिला, रहे ।

उन्मादिनी कभी थी ,
 विवेकिनी ऊमिला हुई सखि, अब है ;
 अज्ञान भला, जिसमे
 सोह तो क्या, स्वय अह भो कब है ?

अवधि-शिला का ऊर पर था गुरु भार ,
 तिल तिल काट रही थी दृग-जल-धार । ४

लहरे उठतो लधेड़ती ,
 घर नीचे कितना थपेड़ती ,
 पर ऊपर एक चाल से ,
 स्थित नक्षत्र अदृष्ट-जाल-से !
 तम में क्षिति-लोक नुस्ख यो ,
 अति नीलोत्पल में प्रसुस्ख ज्यों ।
 हिम - विन्दुमयी, गली ढली ,
 उसके ऊपर है नभस्थली ।
 निज स्वप्न - निमग्न भोग है ,
 रखता शान्ति-सुपुर्णि योग है ।
 एक तन्द्रित राग - गोग है ;
 अब जो जाग्रत है, वियोग है !

जल से तट है सटा पडा ,
 तट के ऊपर है अटा खडा ।
 खिड़की पर ऊमिला खडी ,
मुहें छोटा, औंखियाँ बड़ी बड़ी !

कृष्ण देह, विभा भरी भरी ,
 धूनि सूखी, स्मृति ही हरी हरी !

उदु योज न हृषिगी चुगें ,
 गतिता और धनी उगें उगें !
 तब लाल हृषि गतो कर्म ?
 कर नीजे गरणू, इगे धर्म !
 दग्धमा तन गर्नु में भर्म ,
 जब परा है
 पर यों न
 भर हो है ।
 मुझां ए
 वग यो ही
 निषु ज्वें ।
 ध्रुव विद्यान गुप्ता असा रहा ।
 यह नोभ मुक्ते हिला रहा ,
 प्रिय वा ध्यान यही जिला रहा ।
 उनके गुण-जान में पढ़ी ;
 रमूनियदा जिमली वढ़ी वढ़ी ,
 तड़पे यह प्रीति पश्चिली ;
 नगि, है बिन्तु प्रतीति रथिएगी ।
 विष्णगल परान काग है ,
 कर में दण्ड तिये विशाल है ।

पर दाहक आह है यहाँ ,
 करती चर्वण चाह है यहाँ !
 भय में मत आप पैठ जा ,
 सखि, बैठे हम, नेंक बैठ जा ।
 यह गन्ध नहीं विखेरता ,
 बन-सोता बन-पाश्व फेरता ।
 सुनसान सभी सपाट है ,
 अब सूने सब घाट-बाट है ।
 जड़ - चेतन एक हो रहे ,
 हम जागे, सब और सो रहे !
 निधि निर्जन में निहारती ,
 अपने ऊपर रत्न बांकती ,
 कितनी सुविशाल सृष्टि है ,
 जितनी हा लघु लोक-दृष्टि है !
 तम भूतल - बख है बना ,
 नभ है भूमि-वितान-सा तना !
 वह पावक सुस राख में ,
 बस दो हैं जल-वायु साख में ।
 सरयू कब कलान्ति पा रही ,
 अब भी सागर और जा रही ।

कहिं तो, अपनार है यहो,
जब का अपनार है यहो ।

गाय, गुणार यह तो,
मरि के उत्तरार यह यह तो,
पुन, तु विराम यहिना,
दीर यांत्रिनीर त-प्रांती !
इस यात्राय तो यात्रा,
तिरने यह यात्रा यात्रा,
तिरहा यु सोऽभो, यहो,
उगरी तु धूप द्वादशाहिनो !
तिरहा यह तोर है यात्रा,
तिरने यात्रा-यात्रे है यात्रा ?
यहै यह है यही यात्रा,
गाय, तु क्यु-क्यीरि यात्रा !
राजनार्थ इन्हो यात्रा यात्रा,
तिरना तेज यात्रा ग्रन्थार यात्रा !
यह यात्रा देव-नारियो,
कही है-यहि योर यात्रा !

किसने निज पुत्र भी तजा ?
 किसने यो कृतकृत्य की प्रजा ?
 किसने शत यज्ञ है किये—
 पदवी वासव की विना लिये ?
 सुन, है कहते कृती कवि—
 मिलती सागर को न जाह्नवी ,
 स्व-भगीरथ-यत्न जो कही ,
 करते वे सरयू - सखा नहीं ।
 किसने मख विश्वजित् विया ?
 रथ मृत्पात्र सभी लुटा दिया ?—
 न—न, वेच दिया स्वगात्र ही ,—
 रख दानवत्-मान मात्र ही ?
 जिसका गत यो महान है ,
 सबके सम्मुख वर्तमान है ,
 कल से यह आज चौगुना ,
 उसका हो सुभविष्य सौगुना ।

वश मे जिसका भविष्य है ,
 श्रुति-द्रष्टा ऋषि-वृन्द शिष्य है ,

न चती श्रुतिकीर्ति ताण्डवी ,
 न दि, देती करताल माण्डवी ।
 भरती स्वर ऊमिला सजा ,
 गटती गीत गभीर अग्रजा ।
 सरयू, विसरा विवेक है ,
 फिर भी तू सुन एक टेक है :—

‘मुझसे समझाग छाँट ले ,
 पुतली, जी उठ,—जीव बाँट ले !

अपना कह आप मोल तू ,
 स्वपदो से उठ, खेल, डोल तू ।
 मन की कह, नेंक खोल तू ,
 यह निर्जीव समाधि खोल तू ।

पुचकार मुझे कि डाँट ले ,
 पुतली, जी उठ—जीव बाँट ले !

सुन-देख, स्वकर्ण-दृष्टि है ,
 कितनी कूजित-कान्त सृष्टि है !
 मुझमे यह हार्द हृष्टि है ,
 मुख की आँगन मे सुवृष्टि है ।

अपना रस आप आँट ले ,
 पुतली, जी उठ,—जीव बाँट ले ।’

वह भी बस स्वानुकूल थी ,
 रदतो प्लावित मोद मूल थी ।
 तुझमे वहु वारि चक्र है ,
 बितने कच्छप और नक्र है ।
 वह तो चिरवाल बालिका ,
 लघुमीना, लघु बोचिमालिका ।
 वहु मीन रामीप ढोलते ,
 हमको धेर मराल ढोलते ।
 सब प्रत्यय के अधीन हैं ,
 खग हैं या मृग है कि मीन हैं ।
 वह सैकात शिल्प युक्तियाँ ,
 वह मुक्ताधिक शस्त्र शुक्तियाँ ,
 सब दूट गई वही वही ,
 सखिया भी समुराल जा रही ।

कमला - तट बाटिका बड़ी ,
 जिसमे है सर, कूप, दावडी ।
 मणि - मन्दिर मे महासती ,
 गिरिजा हैमवती विराजती ।

करणाकृति माँ विसूरती ,
गिरिजा भी बन सूरती ।

सुनती कितने प्रसग मैं ,
कर देतो कुछ रंग भेंग मैं ।
चुनती नर-वृत्त मोद से ,
सुनती देव-कथा विनोद से ।
। शिवि को न दधोचि की व्यथा ,
। कहती हो किस शक की कथा ।
यदि दानव एक भी मिला ,
समझो तो सुर-मंत्र ही किला !
अमरों पर देख टिप्पणी ,
कहती 'नास्तिक' खोज माँ मरो ।
हँस मैं कहती—प्रसाद दो !
तज दूँ तो यह नास्ति-वाद दो !
पितृ-पूजन आप ठानती ,
सुर हो पूज्य लयापि मानतीं ।
कहती तब माँ दया-भरी ,—
'वह तेरे पितृ-देव हैं अरी ।

ਦੁਹ ਹੀ ਹਾਂਡੇ-ਵੇਖਿਆ ।
ਗੁਰ ਕੇਂਦੀ ਕਿਵ ਹਾਂਡੇ-ਵੇਖਿਆ ।
ਹਾਂਡੇ ਹਨ ਹੀ ਹਾਂਡੇ—
ਹੁਣ ਹੈ ਪਾਖਿਆ ਹੈ ਹਾਂਡੇ ।
ਦੁਹ ਹੀ, ਹਾਂਦੀ, ਹੁਣਹਿ ਹੀ,
ਪਾਖਿਆ, ਹਾਂਡੇ ਹੁਣਹਿ ਹੀ,
ਹਾਂਡੇ, ਹਾਂਦੀ ਹਾਂਡੇ-ਵੇਖਿਆ,
ਹਾਂਡੀ ਹੁਣਹਿ ਹਾਂਡੇ-ਵੇਖਿਆ ।

मुनरो जब है उमानाथा ,
जब ही ही मृगरो वही राधा ।
'मुम्—मीरा रीति' थोड़ी ,
जह है देव-चतुर्थ, गोपी !
नित यहरा है यु यहरी ,
यहरी यो तिरी भयरी ।
उनरो तिर-गापना यही ,
ददि गोरी पर गान्धना रही !
यहरी विराग वामिता ,
जब गांधुरा भीर-नामिता ,

जय हो ! भय भूल भूल के ,
 कहती भीं तब ऊल ऊल के !
 जब शुभ निशुभ - मर्दिनी
 बनती काम्य - कला कपर्दिनी ,
 करता तब चित्त वाल-सा ,
 जन-धात्री-स्तन-पान-लालसा !
 हम भी सब क्षम - वालिका ,
 बन जावें निज स्वर्ग - पालिका !
 पर अख कहाँ ? 'सभी कही—'
 बढ़ जोजी कहने लगी—'यही !'
 दल विस्मय से अवाक था ,
 उनके हाथ उठा पिनाक था !
 उस काल गिरा, उमा, रमा ,
 उनमे दीख पड़ी सभी समा !!

सबने कल नाद - सा किया—
 'कलिया ने भम को उठा लिया !
 उन ने भन तोल - माप की ,
 यह वेटो निज घन्य बाप की !'

जो ने अब हाथ में रखा,
 वह शोशोधन ने दिया दिया ।
 वह है भूमात्रातिला
 गिरी, वर्षार तो दरे दिया—
 दिल मानव-दर भीन ने,
 अनुकूलन दानादान में ;
 वह बाज छुटे कान्दुपा
 वह कलाया या वीरि युगा ।
 दुर्द दा भर्तुर गाज ची,
 भर्तुर, चोप वर्षु पान पी—
 'दद्याति यो, निवाति ,
 वह—ऐसे वह—वह चाति ।'
 उनमे एव गाय मे वह—
 'दद्यी ती गुण दोष दोषा ।
 वह—ऐसे वहरा ही, यहो,
 जानी ये नालो दिनों पहुँ ।'

अग्नि, वारो भी नितो,
 वह से दिय वध दे नितो ।

वह द्यामल-गौर गाय थे ,
 उनके-से कह, कौन पाय थे ?
 वह पुण्यकृती अपाप थे ,
 पहले ही अवतीर्ण आप थे !
 दुगुने वह धीर-दीर थे ,
 सुकृती ये कल-नीर-तीर थे ।
 प्रभु दायक जो उदार थे ,
 जननी तीन, मुपुश चार थे ।
 कुल - पादप - पुण्य - मूलता ,
 फल चारो फल यहो न फूलता ?

वह बाल्य कथा विनोदिनी ,
 कहना तू कल-मूर्ति मोदिनी ।
 सुनना भर शवय था मुझे ,
 जिसके दर्शन हो चुके तुझे ।
 समझी अब मैं प्रवाहिणी ,
 यह तू क्यो वहु ग्राह-ग्राहिणी ।
 निज वीर-विनोद-पक्ष के ,
 वह हैं साधन लोल-लक्ष के ।

करती व्रत वे नये नये ,
 कुश होती पर मश्श थी अये ।
 वह अचल धूल पोछते ,
 कर कधी घर बाल पोछते ।
 हँस बालक दूर भागते ,
 कुल के दीप अखण्ड जागते ।

तटनी, उन तात की कथा ,
 तनयो-सा प्रिय प्राण भी न था ।
 वस एक नभोमयक था ,
 रखता चार उदार अक था ।
 गुह और गणेश ईश के ।
 वस प्रद्युम्न प्रसिद्ध श्रीश के ,
 पर कोशलराज वे चुने ,
 दुगुने ये यह और चौगुने
 वर मौक्किक - माल्य तोडते ,
 उसको वे फिर छोट छोडते ।
 वहते— हम चौक पूरते ।
 'लड़की हो ?'—हँस तात धूरते ।

सर, सर रह भाव-गद्गदा ,
 रघुवशी वलि धर्म के सदा ।
 कसती कटि थी कनिष्ठ माँ ,
 असि देती मँझली घनिष्ठ माँ ।
 कह—‘क्यों न हमें किया प्रजा ?’
 पहनाती वह ज्येष्ठ माँ सजा ।
 प्रभु ने चलते हुए कहा—
 ‘अवशान्ते, भय-सोचक्या रहा ,
 भगिनी, जय-मूर्ति-सो भुकी ,
 यह राखो जब वाँध तू चुको ?’

कृति में दृढ़, कोमलाकृति ,
 मुनि के सग गये महाधृति ।
 भय की परिकल्पना वड़ी ,
 पथ में आकर ताढ़का अड़ी ।
 प्रभु ने वह लोक-भक्षिणी ,
 अवला ही समझी अलक्षिणी ।
 पर थी वह आत्ताधिनी ,
 हत होती फिर क्यों न डाइनी ।

सुख-शान्ति रहे स्वदेश की ,
 यह सच्ची ध्वनि क्षात्र वेश की ।
 वृद्धि-गो-द्विज-धर्म-वृद्धि हो ,
 रिपु से रक्षित राज्य-कृद्धि हो ।
 प्रभु ने भय-मूर्ति विद्धि की ,
 मुनि ने भी मख-पूर्ति सिद्धि की ।
 वह राक्षस विन्न से बने ,
 पर दो ने सब सामने हने ।
 विकराल बली सुवाहु था ,
 विषु ये ये न, सुवाहु राहु था ।
उसके भुज वेतु - से पड़े ,
 गवि से भी प्रभु किन्तु ये बड़े ।
 दल खेत रहा सभी वहाँ ,
 खल मारीच उड़ा, गया कहाँ ?
 मुनि हर्षित आज थे बड़े ,
 पर वया दें, इस मोच मे पड़े ।
 प्रभु का उपहार धर्म था ,
 ध्रुव निष्वाम स्वकीय कर्म था ।
 मुनि का जय-पूर्ण घोप था ,
 पर यो ही उनको न तोप था ।

सरयू, वर-देव थे यही,
 वरदर्शी पितृ-वाक्य था सही—
 'वर-देव अवश्य है—वढ़ें,
 अपनी ये कलियाँ जिन्हे चढ़ें।'
 सच को किस ओर आँच है,
 पर आवश्यक एक जाँच है।
 सुपरीक्षक सिद्ध आप था,
 वर का, जो वह शम्भु चाप था।
 स्थिर था यह तात ने किया—
 'जिसने खीच इसे चढ़ा दिया।
 पण-रूप, वही रणाग्रणी,
 वर लेगा यह मैथिली-मणि।'

अब भूपति-वृन्द आ चला,
 विचली-सी मिथिला महाचला।
 जन - सिन्धु - तरग - वेष्टिता,
 नगरी थी अब द्वीप-चेष्टिता।
 'भव-की यह भेट भुक्ति लो,
 वह सीता, वह मुक्ति-युक्ति दो।'

फिरता मन था उड़ा उड़ा ,
 मिथिला में भव-संघ था जुड़ा ।
 कहता भव - चाप—'आइए ,
 मुझ-सा निश्चल चित्त लाइए ।
 तन का वल ही न तोलिए ,
 मन की भी वह गाँठ खोलिए !'
 वह रोद्र कटाक्ष - रूप था ,
 सहता जो, वह कौन भूप था ?
 भट रावण - वारण - से कटे ,—
 जिनसे वे सुर - शक्र भी हटे !

हँसती हम, खेल लेखती ,
 चढ़ अट्टों पर दृश्य देखती ।
 पर हा ! वह मारृ-चित्त था ,
 चल जो सन्तति के निमित्त था ।
 सबको सब माँ सहेजती ,
 हमको पूजन - हेतु भेजती ।
 हमने कृतकृत्य हो लिये,—
 वरदा ने वर भी बुला दिये !

अहंपि के मख - विघ्न टालके ,
 निज वीर - व्रत पूर्ण पालके ,
 मुनि की गृहिणी उवारके ,
 वर आये नर - रूप धार के !

सरयू, वह फुल वाटिका
 वन बैठो वर - वीथि - नाटिका !
 युग श्यामल - गौर मूर्तियाँ ,
 हम दो की शत पुण्य-पूर्तियाँ !
 सजते जब भूप न्यून थे ,
 चुनते वे मुनि - हेतु सून थे ।
 निज भूपण आप भानु है ,
 रखता दूपण क्या कृशानु है ?
 ह्यग दर्शन - हेतु क्या बढे ,
 उन पैरो पर फूल - से चढे !
 उनकी मुसकान देख ली ,
 अपनी स्वीकृति आप लेख ली ।
 'नभ नील अनन्त है अहा !'
 घर जीजीधन ने मुझे कहा —

'अपनी जगती अधीन - सी ,
 चरणों मे चुपचाप लीन-सी !'
 निकली उनको उसांस - सी ,
 उसने दी यह एक आँख - सी—
 'उनकी पद-धूल जो धर्हे ,
 न अहल्या-अपकीर्ति से ढर्हे !'
 मुझको कुछ आत्म-गर्व था ,
 क्षण मे ही अब सर्व खर्व था ।
 नत थो यह देह सर्वथा ,
 सरयू, सिन्धु - सभीप तू यथा ।
 भयकेतन - केतु नम्र थे ,
 (तव ये लोचन मीमकम्र थे !)
 विजयी वर ये विनीत क्या ,
 हम हारी, पर तुच्छ जीत क्या ?
 वर आकर धीर - वीर - से ,
 सहसा लौट गये गभीर - से ।
 सुमनस्फुट हाथ मे गये ,
मन पैरो पड साथ मे गये ।
 कुछ मर्मर - पूरण मर्म था ,
 धर्म क्या था, परहाय ! धर्म था ।

यह कण्टक-पूर्ण चर्म था ,
 गद-सा गदगद प्रेम धर्म था ।
 वह अल्हड बाल्य क्या हुआ ?
 नयनो मे कुछ नीर-सा चुआ ।
 इस यौवन ने मुझे धरा ,
 नव सकोच भरा, भरा, भरा ।
 दिलाकर हस्य ही नया
 यह ससार समक्ष आगया ।
 करता रव दूर द्वोण था ,
 मुझको इच्छित एक वोण था ।
 तिरछी यह दृष्टि हो उठी ,
 तकती-सी सब सृष्टि हो उठी ।
 मन मोहित-सा विमूढ था ,
 प्रकटा कौन रहस्य गूढ था ?

धर था भरपूर पूर्व-सा ,
 पर विश्राम सुदूर पूर्व-सा ।
 मन मे कुछ क्या अभाव था ?
 तन मे भी अब कौन हाव था ?

यह देह - साता रुद्ध - मुर्द्ध ,
 निहि यार्द्ध , पर नीर कग हुर्द्ध ?
 तिकरा यह चुरि भोग या ,
 यह या जो पराया तिकोह पा ।
 युत्तमाद् याया गोवने ,
 यह यार नवाह गोवने ,
 निहि या याहि देहने सही ,
 यह सोये , पर मै जयो-जयी !
 नद ये नद जानने सही ,
 नद गदिगर भागने सही ,
 निहि राह राहारने सही ,
 नद मै भरत निहारने सही ।
 कट थो उर थो निता रही ,
 यहि, यो पुट, मठी गिता रही !
 बह शिवा थो निता रही ,
 यहि संगा नजिनी निता रही !
 नवितावहि फूटने सही ,
 यहि - यानी उठ हृदने सही ।
 नभ थो यहि फूटने यही ,
 हरियाली द्विम फूटने सही ।

विहगावलि धोलने लगी ,
 यह प्राची पट खोलने लगी ,
 अटवी हिल डोलने लगी ,
 सरसो सौरभ धोलने लगी ।
 मिलती यह थी स्वकोर से ,
 हत कोकी बच दुख शोक से ।
 वह मूर्यमुखी प्रसन्न थी ,
 फिर भी चेनन सृष्टि सज्ज थी ।
 अविलोडित था जमा दहो ,
 तिमिरामभोधि-समुद्घृता महो ,
 मृदु वायु विहारने लगी ,
 तब मैं स्वप्न निहारने लगी ।

वह स्वप्न कि सत्य, क्या कहूँ ?
 सरयू, तू वह और मैं बहूँ ।
 प्रकटी प्रिय - मूर्ति मोदिता ,
 कब सोई यह हाष्टि रोदिता !
 यह मानस लास्य - पूर्ण था ,
 वह पद्मानन हास्य - पूर्ण था ,

मरता उड़ मरु - पूर्ण पा ,
 मरिये, मरमुरा मरां-पूर्ण पा ।
 पर जो यह देह पो लगा ,
 जिनकी नवरसिंगा-नामानुपा !
 फौरी यह धनि - देह ये ,
 नह भी हो गरो न भेद मे ।
 धनि देहन - यूनि निहिये !
 हैं योसे दिन द्रेष मे—‘प्रिये !’
प्रिये गोप म्याना कृष्णस्तु
 यज्ञा जो गुन विद्व-मन्त्र पा ।

तटियो, यह तुम्हा रिकरो ,
 मुन से थयों न, बता यही मरी ?
 यह जीवन का निमेष पा ,
 पर यांगे यह कान देष पा !

रियनो उग द्वादु में गुपा ,
 मरगू, मैं कहांगी नहीं गुपा ।
 यह राष - परोषि पी मरी ,
 तब तो मैं यह घाज जी मरी ।

मुझको प्रिय स्वप्न मे मिले ,
 पर बोले वह—‘हाय झर्मिले ।
 बर है, पर बीर है बरो ,
 घर लो धीरज तो मुझे घरो ।’
 मुखरा मति मौन ही रही ,
 पर थी सम्मति सो हुई वही ।
 ‘अबला तुम ।’—हाय रे द्यली ।
 बरती है तब तो महाबली ।
 ‘वह मानस क्या गभीर है ?’
 रखता मज्जन-योग्य नीर है ?’
 लघु है यह, आप थाह लो ,
 पर जो है, अब तो निबाह लो ।
 ‘तब क्या उपहार दूँ, कहो ?’
 धन क्या, मैं मन वार दूँ अहो !
 कर मे शर है कि शूल है ।’
 निरखूँ तो वह एक फूल है ।
 प्रिय ने कर जो बढ़ा दिया ,
 घर मैंने सिर मे चढ़ा लिया ।
 पलकें ढल हाय । जो खुली ,
 हँसती थी किरणें मिलो जुली ।

गद्दा यह का हुआ परे ,
 उपरे क्यों निर नेत्र दे भरे ?
 यह या यह व्यञ्ज हो गही ,
 गव मिला, दुर्गम-गवया यही !

दिमने मम दागवा गही ,
 मम लालंगप मुराधावा यही !
 यह भी उम शाम थी गही ,
 मूर्जावी जो भर मग से भावी !
 मव दोग विनेप भूम थो ,
 इम जो मे यम एक भूम थो !
 दिमने यह दागवावा थी ,
 बरही दा ! यह मूर्जिताम थो !

निन गोण-गणथ हो भनो ,
 गिरा थो दोर्पं स्वयवरहथनो ;—
 निमने यर ही बाहू दरे ,
 यदि निपीरित थोरता परे !

दृग-दोपक थे बुझे बुझे,
 पहला सोच हुआ यही मुझे—
 प्रभु चाप न जो चढ़ा सके ?
 उड़ता था मन, अग थे थके !
 तब मैं अति आर्त हो उठी,
 घर जो जी-मणि को भिगो उठी !
 हँस वे कहने लगी—‘अरी,
 यह तू क्यो इतना डरी डरी ?
 चढ़ता उनसे न चाप जो,
 वह होते न समर्थ आप जो,
 उठती यह भोह भी भला,
 उनके ऊपर तो अचला ?
 दृढ़ प्रत्यय के विना कही,
 यह आत्मापंण दीखता नही !
 मधु को निज पत्र क्यो, बता,
 करती अपित पूर्व ही लता ?
 बनती जब आप अपिता,
 वह वर्ती वह स्नेह तर्पिता,—
 उसको भर अक भेटता,
 तब पीछे तम दीप भेटता !

रूप - नेत्र - मिलिन्द जो जुड़े ,
 सजनी - चामर से परे उड़े !
 बल - यौवन - रूप - वेश का ,
 अपने विष्ट-विशिष्ट देश का ,
 दिखलाकर लोभ लुब्ध था ,
 फिर भी राज-समाज क्षुब्ध था ।
 रूप - समुख नज़र नाक था ,
 पर मध्यस्थ महापिनाक था ।
 सिर मार मरे नहीं हटा ,
 न रही नाक, पिनाक था डटा ।
 सबका बल व्यर्थ हो बहा ,
 तब दुःखी-सम तात ने कहा—
 'वस वाहुजता विलोन है ,
 वसुधा वीर - विहीन दीन है !'
 'कहता यह बात कौन है ?
 सुनता सत्कुलजात कौन है ?'
 गरजे प्रिय जो 'नहीं नहीं !'
 सरयू, ये हत नेत्र ये बहीं ।
 शिखरस्थित सिंह - गर्जना—
 वह मचोपरि कान्त - तज्जना ।

प्राणोदय देग मानना
 न चढ़ा बौन मनुष्य जागना ?
 'यद भी रवि का विकाम है,
 यद भी मानर रन्नदाम है।
 यद भी रवि-वदा दोष है,
 यमुदा है, वृहद्य शेष है।
 यद भी जल-पूरा जहुजा,
 यद भी राष्ट्र के महा भुजा।
 यत काम्यक इसु सण्ड हैं,
 मम शुद्धोऽम वागुदण्ड है।
 यह यात महापमान की,
 मम आर्य वह विन्तु जाननी।
 उठ आर्य, स्वार्यं कीजिये,
 घन को रोहित-दीसि दीजिये।'

सुनते सब लोग सन्न थे,
 नत भी तात वडे प्रसन्न थे।
 यह भी सुध थी तिरो नदि,—
 प्रभु घन्या न चढा सपे यदि ?

रहता नृप कौन दर्पं था ?
 मणि जीजी, शिव-चाप सर्पं था ।
 कुछ गारुड-मन्त्र-सा किया ,
 प्रभु ने जा उसको उठा लिया ।
 रस का परिपाक हो गया ,
 चढ़ता चाप तड़ाक हो गया !
 प्रभु - साम्य समुद्र - सग था ,—
 घनुरल्लोल उठा कि भंग था !

सब हृपं निमग्न हो गये ,
 द्वितिपो के मन भग्न हो गये ।
 कुछ बोल उठे यही वहाँ—
 'बल ही था यह, बीरता कहाँ ?'
 किसका यह लोभ रो उठा ?
 मुझको भी सुन क्षोभ हो उठा ।
 भृकुटी जब लौ चढ़े यहाँ ,
 प्रिय ने चाप चढा लिया चहाँ ।
 निंकला रव रोर चीरता—
 'किसमें है वह बोर्य - बीरता ?'

जिसको उसका प्रमाद है ,
उसके क्षपर वाम पाद है ।'

ध्वनि मडप - मध्य छा गई ,
तब लौ भार्गव-मूर्ति आ गई ।
} प्रभु से भव - चाप भग या ,
} प्रिय से भार्गव का प्रहन या ।
मुनि की निज गर्व - गर्वना ,
प्रिय की तत्करण योन्य दर्शना ।
प्रभु की वह सीम्ब दर्शना ,
गतवृत्ति शो न्न न्न न्न न्न ।

प्रभु को निज चाप दे गये ,
 मुनिता ही मुनि आप ले गये ।
 सुरलोक जहाँ नगण्य है ,
 वह प्रज्या-व्रत धन्य धन्य है ।

सरयू, जय-दुन्दभी वजी ,
 वह वारात बढ़ी यहाँ सजी ।
 भगिनी मुग और थी वहाँ ,
 वर भ्राता हृष्य और थे यहाँ ।
 कर-पीड़न प्रेम-याग था ,
 कह, स्वीकार कहूँ कि त्याग था ?
 वह मोद विनोद-वाद था ,—
 जिसमे मग्न स्वयं विपाद था ।
 वह वन्धन - मुकि - मेल - सा ,
 विधि का सत्य, परन्तु खेल-सा !
 नर का अमरत्व तत्व था ,
वह नारीकुल का महत्व था ,
 वह जाग्रत स्वप्न थे नये ,
 दिन आये कव और वे गये ?

कव हा ! उस स्वप्न से जगी ,
जब माँ से हम छूटने लगी ।

विदुडा विलुडा विपाद है ,
तुम्हारो तो स्ववियोग याद है । ~
जब तू इस आर्द्ध देह से ,
पति के गेह चलो स्वगेह से ।
शतधा स्विता हुए विना ,
सरिता, क्या द्रविता हुए विना ,
घर से चल तू सबो बता ?
कितनी हाय-पद्धाड, बया पता ।

‘मत रो’—वह आप रो उठी ,
तुम क्यो माँ, यह धैर्य खो उठो ?
‘यह मैं जननी प्रपीडिता ,
पर तू है शिशु आप श्रीडिता ।’
किर क्यो शिशु बो हटा रही ?
तुम माँ की ममता घटा रही ।
‘हटती यह आप मैं यहाँ ,
तुम हो और सुखी सदा वहाँ ।

सुन, मैं यह एक दीन माँ,
 तुमको हैं अब प्राप्त तीन माँ।
 पति का सुख मुख्य मानियो।'
 'सुख को भी सहनीय जानियो।'
 पिछला उपदेश तात का,
 विसरा-सा वह वेश तात का,
 अब भी यह याद आ रहा,
 विसरा-सा सब भान जा रहा।
 उनको कब लोभ मोह था,
 पर भाँ भाँ करता विछोह था।
 हम तो उस गोद मे रही,
 उनकी ब्रह्म-दया कहाँ नहीं?
 हम पेर पलोटने लगी—
 पठ पैरो पर लोटने लगी।
 'फिर आकर अक भेटियो,
 थल भूली तुम आज वेटियो।'

उस आँगन मे खड़ी खड़ी,
 भर आँखें अपनी वड़ी वड़ी,

अब भी सुध माँ विमारती,
 सहसा चौंब हमे पुकारनी।
 अब आँगन भाँय भाँय है,
 करता मारून साँय साँय है।
 झडते सब फूल फूटके,
 पडते हैं बस अश्रु दूटके।

प्रिय आप न जो उवार लें,
 हमको मारूवियोग मार लें।
 तटिनी, यह ज्ञात है तुझे,
 प्रिय ने दुख भुला दिया मुझे।
 सरयू, वह सौस्थ क्या कहै ?
 अब तो मैं यह दुख हो सहै।
 उतना रस भोग जो जिये,
 वह दुर्देव हगम्बु भी पिये !
 वह हूँ यह मैं अभागिनी,
 अपना-सा धन आप त्यागिनी।

। { विष-सा यह जो वियोग है,
 अपना ही सब कर्म-भोग है। } ।

विनतो यह हाथ जोड़वे—

वह, मैंने प्रिय सग छोड़के
कुल के प्रतिकूल तो कही,
अपना धर्म घटा दिया नहीं ?

सुवधू इस गण्य गेह की,
दुहिता होकर मैं विदेह की,
प्रिय को, घर देह-भोग से,
करतो वचित व्या सुयोग से ?

रहते घर नाथ, तो निरा
वहतो स्त्रैण उन्हे यही गिरा ।
जिसमे पुरुपार्थ-गर्व था,
मुझको तो यह एक पर्व था ।

करतो बल नीरनाद तू,
सुख पातो अथवा विपाद तू ?
अनुमोदन या विरोध है ?
मुझको व्या यह आज बोध है ?

मन के प्रतिकूल तो कही
करते लोग कुभावना नहीं ।
तुझको कल-वान्त-नादिनी,
गिनती है अनुकूल-वादिनी ।

जितना यह दुःख है कड़ा ,
 उससे प्रत्यय और भी बड़ा ।
 यदि लीक घरे न मैं रही ,
 मुझको लीक घरे, यहो मही !
 सुख शान्ति नहीं, न हो यहाँ ,
 तुम सन्तोष, बने रहो यहाँ ।
 सुख-सा यह दुःख भी भिले ,
 मुझको शान्ति अशान्ति मेरिले !

तब जा सुख-नाट्य-नर्तिनी ,
 वन तू सागर-पाइर्व-वत्तिनी ।
 पथ देख रही तरंगिणी ,
 निपथा-सी वह सग-रगिणी ।
 यह ओघ अमोघ जायगा ,
 पथ तो पान्थ स्वयं बनायगा ।
 चल चित्त तुझे चला रहा ,
 जलता स्नेह मुझे जला रहा ।
 गति जीवन में गिली तुझे ,
 सरिते, बन्धन की व्यथा मुझे ।

तन मे न सहो, अभगिनो ,
 मन से हैं हम विन्दु सगिना ।
 वह, क्या उपहार दै तुझे ?
 घनक ही यह दोषतो मुझे ।
 लट ले यह एक प्रेम मे ,
 रख गायो, गह निय थोस से ।
 सजनी, यह व्यर्थ बोचती ,
 मिय से मैं कब वाल नोचनी ?
 यह बन्धन एक प्रीति ना ,
 इसमे या गुद्ध काम भोति ना ?
 अवि, शुक्लिगयी,, सोभाल तू ,
 रख याती, यह अथु पाल तू ।
 यदि मैं न रहौ, नहीं सही ,
 प्रिय की भेट बनें यहाँ यही !
 अथवा यह क्षार नीर है ,
 प्रिय धाराविय तुझे गम्भीर है ।
 तब ले हग-विन्दु कुद्र ये ,
 बढ हो जायें स्वय समुद्र ये ।
 धन पान करें कभी इन्हे ,
 रुचता है परमार्थ ही जिन्हे ।

यह भी इस भाँति धन्य हो ,
 जगती के उपकार - जन्य हो !
 प्रिय के पद धूल से भरे ,
 सपरागाम्बुजता जहाँ धरे ,
 यह भी उस धूल मे गिरे ,
 इनके भी दिन यो फिरें फिरें ।

— | वह धूल स्वय समेट लूँ ,
 तुम्हको तो निज 'फून' भेट दूँ ।
 यदा गा निज बीर बृन्द का ,
 ध्रुव-से धीर गभीर बृन्द का ।"

टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा मे .
 झड झड पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा मे ।
 कर पटक रही थी निम्नगा पीट आती ,
 सन सन करके थी शून्य की साँस आती ।

| सखी ने अक मे खीचा, दुखिनी पड़ सो रहे
 स्वप्न मे हँसती थी हा । सखी थी देख रो रहे

एकादश सर्ग

जयति कपिध्वज के दृपालु पवि ,
वेद - पुराण - विष्णवा व्यास ,
जिनके अमर गिराश्वित है सब
धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास !

वरसे वीत गई, पर अब भी
है साकेत पुरी मे यत-
तदपि रात चाहे जितनो हो ,
उसके पोछे एक प्रभात

ग्रास हुआ आकाश, भूमि क्या ,
 दचा कौन अँधियारे से ?
 फूट उसीके तनु से निकले
 तारे कच्चे पारे - से ।
 विकच व्योम-विटपी को मानो
 मृदुल व्यार हिलाती है ,
 अंचल भर भरकर मुक्ता-फल
 खाती और दिलाती है !
 सीध-पाथ्य में पर्णकुटी है ,
 उसमें मन्दिर सोने का ,
 जिसमें मणिमय पादपीठ है ,
 जैसा हुआ न होने का ।
 केवल पादपोठ, उसपर है
 पूजित युगल पादुकाएँ ,
 स्वयं प्रकाशित रत्न-दीप हैं
 दोनों के दायें-बायें ।
उटज-प्रजिर में पूज्य पुजांरी
उदासीन - सा बैठा है ,
 आप देव-विग्रह मन्दिर से
 निकल लीन-सा बैठा है ।

मिले भरत मे राम हमें तो ,
 मिले भरत को राम कभी ,
 वही स्प है, वही रग है ,
 वही जटाएँ, वही सभी !
 वायी ओर धनुष को शोभा ,
 दायी ओर निपग - छटा ,
 वाम पालि मे प्रत्यंचा है ,
 पर दक्षिण में एक जटा !
 "आठ मास चातक जीता है
 अपने धन का ध्यान फिये ;
 आदा कर निज धनश्याम को
 हमने वरसों विता दिये !"

सहसा शब्द हुआ कुछ वाहर ,
 किन्तु न दूटा उनका ध्यान ,
कब आ पहेंची वहाँ माण्डवो ,
 हुआ न उनको इसका जान ।

चार चूडियाँ थी हाथो मे ,
 माथे पर सिन्धुरो विन्दु ,
 पीताम्बर पहने थी सुमुखी ,
 कहाँ असित नम का वह इन्दु ?
 फिर भी एक विपद वदन के
 तपस्तेज मे पैठा था ,
 मानो लोह-तन्तु मोती को
 वेघ उसीमे बैठा था ।
 वह सोने का थाल लिये थी ,
 उसपर पत्तल छाई थी ,
 अपने प्रभु के लिए पुजारिन
फलाहार मज लार्ड धी ।
 तनिक ठिक, कुछ मुड़कर दायें ,
 देख अजिर मे उनकी ओर ,
 शीश मुकाकर चलो गई वह
 मन्दिर मे निज हृदय हिलोर ।
 हाथ बटाकर रखवा उसने
 पादपीठ के सम्मुख थाल ,
 टेका फिर घुटनो के बल हो
 द्वार-देहली पर निज भाल ।

टपक पड़ी उसकी आँखों से
 बड़ी बड़ी बूँदे दो चार,
 दूनी दमक उठी रत्नों को
 किरणे उनमे डुबको मार !

यही नित्य का क्रम था उसका,
राजभवन से आनी थी,
स्वश्रू - शुश्रू पिण्डी अन्त मे
पति - दर्शन कर जाती थी।

उठ धीरे, प्रिय-निकट पहुँचकर,
 उसने उन्हे प्रणाम किया,
 चौंक उन्होंने, संभल 'स्वस्ति' कह,
 उसे उचित सम्मान दिया।
 "जटा और प्रत्यचा को उस
 तुलना का फल क्या निकला?"
हँसने की चेष्टा करके भी
हा ! रो पड़ी बधू विकला।

“यह विदाद भी प्रिये, अन्त मे
 स्मृति - विनोद वन जावेगा ,
 दूर नहीं अब अपना दिन भी
 आने को है, आवेगा ।”

“स्वामी, तदपि आज हम सबके
 मन क्यों रो रो उठते हैं ,
 किसी एक अद्यत्त आत्ति से
 आतुर हो हो उठते हैं ।”

“प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह ,
 सदा शकिनी आशा है ,
 होकर भी वहु चित्र - शकिनी
 आप रकिनी आशा है ।

विस्मय है, इतनी लम्बी भी
 अवधि बीतने पर आई ,
 खड़ा न हो फिर नया विज्ञ कुछ ,
 स्वयं सभय चिन्ता छाई ।

सुनो, नित्य जन - मनस्कल्पना
 नया निकेत बनाती है ,
 किन्तु चचला उसमे सुख से
 पल भर बैठ न पाती है ।

~, सत्य सदा शिव होने पर भी,
 विरुद्धाकाश भी होता है,
 और कल्पना का मन केवल
 सुन्दरार्थ ही गेता है।
 तो भी अपने प्रभु के ऊपर
 है मुझको पूरा विश्वास,
 आर्य कही हो, किन्तु आर्य के
 दिये वचन हैं मेरे पास।
 रोक सकेगा कौन भरत को
 अपने प्रभु को पाने से?
 टोक सकेगा रामचन्द्र को
 कौन अयोध्या आने से?"

"नाथ, यही कहकर माँगो को
 किसी भाँति कुछ खिला सको,
 पर अमिला वहन को यह मैं
 आज न जल भी पिला सकी।

'कहाँ थीर कंसे होगे वे?'—
 कह कह माँए रोती हैं,
 'कटि उन्हें कसकते होगे'—
 रह रह धीरज खोती हैं।

किन्तु वहन के वहने वाले
 आँसू भी सूखे हैं आज ,
 वर्षनी के वरणालय भी वे
 अलको से, रुक्षे हैं आज !
 उनके मुहे को ओर देखकर
आपह आप ठिकता है ,
 कहना क्या, कुछ मुनन में भी
 हाय ! आज वह थकता है ।
 दीन-भाव मे कहा उन्होने—
 'वहन, एक दिन वहुत नहो ,
 वरसों निराहार रहकर ये
 आँखें क्या मर गई कही ?'
 विवश लौट आई रोकर मैं ,
 लाई है निवेद्य यहाँ ,
 'आता हूँ मैं'—कहकर देवर
गये उन्होंके पास वहाँ ।
 सनिःश्वाम तब कहा भरत ने—
 "तो फिर आज रहे उपवास ।"
 "परप्रसादप्रभु का ?" यह कहकर
 हुई माण्डवी अधिक उदास ।

“सबके साथ उसे लूंगा मैं,
बीते,—बीत रही है रात,
हाय ! एक मेरे पीछे हो

॥ हुआ यहाँ इतना उत्पात !
एक न मैं होता तो भव की
क्या असरपता घट जाती ?
घाती नहीं फटी यदि मेरी,
तो घरती ही फट जाती !”

“हाय ! नाथ, घरती फट जाती ,
हम तुम कही समा जाते ,
तो हम दोनों किसी मूल मे
रहकर कितना रस पाते ।

न तो देखता कोई हमको ,
न वह कभी ईर्ष्य करता ,
न हम देखते आतं किसीको ,
न वह शोक आँसू भरता ।

स्वयं परस्पर भी न देखकर
करते हम बस अगस्त्यर्ण ,
तो भी निज दाम्पत्य-भाव का
उसे मानतो मैं आदर्श ।

कौन जानता किम आकर मे
 पड़े हृदय स्पी दो रत्न !
 किर भी लोग किया करते हैं
 उनकी आदा पर ही यत्न ।
 ऐसे ही अगणित यत्नों से
 तुम्हें जगत ने पाया है,
 उसपर तुम्हें न हो, पर उसको
 तुमपर भमता - माया है ।
 नाथ, न तुम होते तो यह व्रत
 कौन निभाता, तुम्हों कहो ?
 उसे राज्य से भी महाहं धन
 देता आकर कौन अहो !
 भनुप्यत्व का सत्व-तत्व यों
 किसने समझा - दूझा है ?
 सुख को लात मारकर तुम-सा
 कौन दुख से जूझा है ?
 खेतों के निकेत बनते हैं
 और निकेतों के फिर खेत,
 वे प्रासाद रहें न रहें, पर,
 अमर तुम्हारा यह साकेत ।

मेरे नाय, जहाँ तुम होते
 दासी वही मुखो होती,
 किन्तु विश्व की भ्रातृ-भायना
 यहाँ निराश्रित हो रोनी।
 रह जाता नरलोक अवृध ही
 ऐसे उन्नत भावो से,
 घर घर स्वर्ग उत्तर सकता है
 प्रिय, जिनके प्रस्तावों से।
 जीवन में सुख-दुःख निरन्तर
 आते जाते रहते हैं,
 मुख तो सभी भोग लेते हैं,
 दुःख धोर ही सहते हैं।

✓ मनुज दुर्घ से, दनुज स्विर से,
 अमर सुधा से जीते हैं,
 किन्तु हलाहल भव-जागर का
 शिव-शकर ही यीते हैं।

धन्य हुए हम सब स्वधर्म की
 जिस इस नई प्रतिष्ठा से,
 समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल
 .. इसी अतुल की निष्ठा से !

हमें ऐतिहासिक घटनाएँ
 जो शिक्षा दे जाती हैं,
 स्वयं परीक्षा लेने उम्ही
 लौट लौटकर आती हैं।
 अब के दिन के लिए खेद यह,
 जब यह दुख भी चला चला ?
 सच कहती है, यह प्रसग भी
 मुझको जाते हुए खला !”
 “प्रिये, सभी सह सकता हूँ मैं,
 पर असह्य तुम सबका ताप !”
 “किन्तु नाथ, हम सबने इसको
 लिया नहीं क्या अपने आप ?
 भूरि-भाग्य ने एक भूल की,
 सबने उसे सौभाला है,
 हमें जलातो, पर प्रकाश भी
 फैलातो यह ज्वाला है।
 कितने कृती हुए, पर किसने
 इतना गौरव पाया है ?
 मैं तो कहती हूँ, सदैव ही
 यहाँ दुख यह लाया है !

यथा - भरी बातों में ही तो
 रहता है कुछ गार भरा,
 प में तपकर ही वर्षा में
होती है उर्वरा परा ।
 ।, देवर आ गये, उन्हींके
 पोड़े की ये टापें हैं,
 सुदृढ़ मार्ग पर भी ब्रुतलप में
 यथा मुरज की थापें हैं।
 राजनीति वाधक न बने तो
 तनिक और ठहरूं इस ठौर ?"
 "सो कुछ नहीं, किन्तु भूत्यों को
 प्रिये, कष्ट हो होगा और।"
 "उन्हें हमारे मुख से बढ़कर
 नाथ, नहीं कोई सन्तोष,
 सदा हमारे दुःखों पर जो
 देते हैं स्वदेव को दोष।"

आकर—"लघु कुमार आते हैं"—

बोली नत हो प्रतिहारी,
"आवें" कहा भरत ने, तत्क्षण
आये वे धन्वाधारी।

हृश होकर भी अग बीर के
सुगठित शाण - चढे - से थे,
सरल वदन के विनय - तेज युग
मिलकर अधिक बढे - से थे।

दोनों ओर दुक्कल फहरता,
निकले थे मानो दो पक्ष,
चडकर भी सुस्फूर्ति - सूर्ति दे
ला सकते थे अपना लक्ष।

आकर विया प्रणाम उन्होने,
दोनों ने आशीप दिया,
मुख का भाव देखकर उनका
सुख पाया, सन्तोप विया।

"कोई तापस, कोई त्यागी,
कोई आज विरागी है,
घर सेभालने वाले मेरे
देवर ही बड़भाग हैं!"

मुसकावर तोनो ने क्षण भर
 पाया वर विनोद-विश्राम,
 अनुभव करता था अपने मे
 चिन्हूट का नन्दिप्राम ।

बोले तब शशुन्न भरत से—
 “आर्य, कुशलता है पुर मे,
 प्रभु की स्वागत-सज्जा को ही
 उत्सुकता सबके उर मे।
 अपने अतुलित जनपद वो जो
 आकृति मात्र रही थी शेष,
 नव्य-भव्य वरणों का उसमे
 होता है अब पुनरुन्मेय ।
 वह अनुभूत-विभाग आपना
 बढ़ता है विभूति पाकर,
 लिखते हैं लोगों के अनुभव
 लेखक जहाँ तहाँ जाकर ।

करते हैं ज्ञानी - विज्ञानी
 नित्य नये सत्यों का शोध ,
 और सर्वसाधारण उनसे ,
 बढ़ा रहे हैं निज निज वोध ।
 नूतन वृत्तों में विविद-विविद
 नये गीत रच लाते हैं ,
 नव रागों में, नव तालों में ,
 गायक उन्हें जमाते हैं ।
 नये नये साजों वाजों की
 शिरपकार करते हैं सृष्टि ,
 गूढ़ रहस्यों पर ही प्रतिभा
 डाल रही है अपनी हृषि ।
 नई नई नाटक - सज्जाएं
 सूनधार करते हैं नित्य ,
 और ऐन्द्रजालिक भी अपना
 भरते हैं अद्भुत साहित्य ।
 चित्रकार नव नव हृश्यों को
 ऐसा अकित बरते हैं ,
 आनन्दित करने के पहले
 जो कुछ शक्ति बरते हैं ।"

कहा माण्डवो ने—‘ उलूक भी
 लगता है चित्रस्थ भला ,
 सुदर को सजोव करती है ,
 भीषण को निर्जीव कला ।’
 ‘ वैद्य नवीन वनस्पतियो से
 प्रस्तुत करते हैं नव योग ,
 जिनके गन्धस्पर्श मात्र से
 मिटें गात्र के वहु विध रोग ।
 सौगन्धिक नव नव सुगन्धियाँ
 प्रभु के लिए निकाल रहे ,
 मालो नये नये पौधो को
 उद्यानो मे पाल रहे ।
 एक शाल मे वहु विभिन्न दल
 और विविध वधित फल फूल ,
 यथा विचित्र विश्व-विटपी मे
 अगणित विटप , एक ही मूल ।
 तन्तुवाय बुन बना रहे हैं
 नये नये वहु पट - परिधान ,—
 रखने मे पूलो के दल - से ,
 फैलाने मे गन्ध - समान ।

स्वर्णकार कितने प्रकार से
 करते हैं मणि-कांचन-योग ,
 चमत्कार के ही प्रसार में
 लगे चाव से हैं सब लोग ।
 गल गलकर ढल रही धातुएँ
 पिघल महानल में जल ज्यों ,
 हुए टांकियों के कीशल से
 उपल सुकोमल उत्पल ज्यों !
 फूल-पत्तियों से भूपित हैं
 फिर सजीव-से नोरस दारु ,
 कारु-कुथलताएँ हैं अथवा
 उनकी पूर्वस्मृतियाँ चारु !
 बसुधा-विज्ञों ने कितनी ही
 खोजी नई नई खानें ,
 पढ़े धूलि में होंगे फिर भी
 कितने रत्न विना जानें ।
 श्रमो कृपक निज बीज-बुद्धि का
 रखते हैं जोवित इतिहास ,
 राज - धोप मे देखा मैंने
 आज नया गोवश - विकास ।

विभु की बाट जोहते हैं सब
 ले लेकर अपने उपहार,
 दे देकर निज रचनाओं को
 नव नव अलकार - शुगार।
 करा रहे ऊर्जस्वल बल से
 नित्य नवल कौशल का मेल,
 साध रहे हैं सुभट विकट वहु
 भय - विस्मय - साहस के खेल।
 करके नये नये शक्ति से
 नये नये लक्ष्मी को विद्ध,
 विविध युद्ध-कौशल उपजाकर
 करते हैं सैनिकजन सिद्ध।"
 कहा माण्डवी ने—“क्या यो ही
 सच्चे कलह कही कम है?
 हा ! तब भी सन्तुष्ट न होकर
 लगे कल्पना में हम हैं!”
 “प्रिये, तुम्हारी सेवा का सुख
 पाने को ही यह थम सर्व,
 वीरों के व्लण को वधुओं की
 स्नेह - दृष्टि का ही चिर गर्व।”

“हाय ! हमारे रोने का भी
रखते हैं नर इतना मूल्य !”

“हाँ भद्रे, वे नहीं जानते, .
 हँसने का है वितना मूल्य !”

“किन्तु नाथ, मुझको लगती है
 कलहमूर्ति हो अपनी जाति,
 आत्मीयों को भी आपस में
 हमी बनाती यहाँ अराति !”

“आयें, तब क्या कहती हो तुम
 यहाँ न होती माताएं ?

होता कुछ भी वहाँ कहाँ से
 जहाँ न होती माताएं ?

नहीं कही गृह-कलह प्रजा में,
 हैं सन्तुष्ट तथा सब शान्त,
 उनके आगे सदा उपस्थित
 दिव्य राज-कुल का दृष्टान्त !

अन्न-वृद्धि से वृप्त तथा वहु
 कला-सिद्धि से सहज प्रसन्न,
 अपना ग्राम ग्राम है मानो
 एक स्वतन्त्र देश सम्पन्न !

"आर्य, तराई से आया है
 , एक श्वेत शोभन गज आज,
 प्रभु के स्वागतार्थ उसके मिष्ठ
 समुपस्थित मानो गिरिराज !
 सहज मुगति वह, किन्तु निपादी
 उसे और शिक्षा देंगे,
 प्रभु के आने तक वे उसको
 उत्सव - योग्य बना लेंगे ।"
 "अनुज, सुनाते रहो सदा तुम
 मुझको ऐसे ही संवाद,
 सुनो, मिला है हमे और भी
 हिमगिरि का कुछ नया प्रसाद ।
 मानसरोवर से आये थे
 , सन्ध्या समय एक योगी,
 मृत्युज्ञय की ही यह निश्चय
 मुझपर कृपा हुई होगी ।
 वे दे गये मुझे वह श्रोपधि
 संजोवनी नाम जिसका,
 क्षत-विक्षत जन को भी जीवन
 देना सहज काम जिसका ।

किया उसे सस्थापित मैंने
 चरण-पादुकाओं के पास ,
 फैल रही यह सुरभि उसीकी ,
 करती है वह विभा-विकास ।”

“आर्यं सभी शुभ लक्षण हैं, पर
 मन मे खटक रहा है कुछ ,
 निकल निकलकर भी कौटे-सा
 उसमे अटक रहा है कुछ ।
 लाकर दूर दूर से अपने
 प्रभु के लिए भेट सर्नेह ,
 जल-थल से पुर के व्यवसायो
 लौट रहे हैं निज निज गेह ।
 आज एक ऐसे ही जन ने
 मुझ्हो यह सवाद दिया ,
 सबके लिए अगम दधिण का
 पथ प्रभु ने है सुगम किया ।

शान्त, सदय मुनियों को उद्धत
 राक्षस वहाँ सताते थे,
 धर्म - कर्म के घातक होकर
 उनसे खा तक जाते थे।
 आये, सिहर उठी तुम सुनकर
 हुआ किन्तु अब उनका आण !
 रहते हैं लेकर हा अयवा
 देकर ही प्राणों को प्राण !
 प्रभु के शरण हुए कुछ कृपि-मुनि
 कहकर कष्ट - कथा सारी,
 सफल समझ अपना वन आना
 द्रवित हुए वे भयहारी।
 अति और अनसूया ने तब
 उनको आशीर्वाद दिया,
 दिव्य वसन - भूपण आर्या को
 दे वेटी - सा विदा किया।
 दण्डक वन में जाकर प्रभु न
 लिया धर्म - रक्षा का भार,
 दिया अश्रु-जल हत मुनियों को
 उनका अस्ति - समूह निहार।

वाघक हुआ विराघ मार्ग मे ,
 झपटा मार्या पर पापण्ड ;
 जीता हुआ गाड देना हो
 समुचित था उस खल का दण्ड ।”
“हाय अभागे !” “मन्चमुच भाभी
अच्छा हो गरि का भी अन्त ,
किन्तु स्वय माँगा था उसने
मुक्ति हेतु यह दण्ड दुरन्त ।

✓ मिल शरभग, सुतीक्षण आदि से
 आये अगस्त्याश्रम आये ,
 कौशिक-सम दिव्याख्य उन्होने
 उन मुनिवर से भी पाये ।
 गोदावरी - तीर पर प्रभु ने
 दण्डक बन मे वास किया ,
 अपनी उच्च आये - सस्कृति ने
 वहाँ अवाध विकास किया ।
 राक्षसता उनको विलोक्यकर
 थी लज्जा से लोहित - सी ,
 शूर्पेणुखा रावण की भगिनी
 पहुँचो वहाँ विमोहित - सी ।”

हँसो माण्डवो—“प्रथम ताङ्का ,
 फिर यह शूर्पणखा नारी ,
 किसी विडालाक्षी की भी अब
 आने वाली है वारो !”
 “उनमें भी ‘सुलोचनाएँ हैं
 और प्रिये, हममें भी अन्ध !”
 “नाथ, क्यों नहीं,—तभी न अब यह
 जुड़ता है उनसे सम्बन्ध !—
 हाँ देवर, फिर ?” “भाभी, आगे
 हुआ सभी रस-भाव विवरण् ,
 आर्या को खाने आई वह—
 । गई कटाकर नासा-करण् ।

इसके पीछे उस कुटीर पर
 घिरी युद्ध की धोर घटा ,
 निशाचरों का गजन-तजन ,
 शब्दों की वह तड़िच्छटा ।

अभय आर्य ने इन्द्रचाप - सा
चाप चढ़ाकर छोड़े बाण ,
रहा राक्षसों के जोगित की
वर्षा का फिर क्या परिमाण ?

- ✓ निज संस्कृति-समान आर्या को
अग्रज रक्षा करते थे ,
और प्रहरणों से प्रभुवर के
रण में रिपु - गण मरते थे ।
वह सत्यक भी वैरि जनों में
उन गतियों से खेले वे ,
दीख पड़े सबको असत्य - से
होकर आप अकेले वे !
दूषण को सह सकते कैसे
स्वयं संगुण धन्वाधारी ,
खर था खर, पर उनके शर थे
प्रखर पराक्रम - विस्तारी ।
वरण - भूषण पाकर विजयश्री
उन विनोत में व्यक्त हुई ,
निकन गये सारे कटक - से
व्यथा आप ही त्यक्त हुई ।

जय जयकार किया मुनियों ने ,
 दस्युराज यों ध्वस्त हुआ ,
आर्य - सभ्यता हुई प्रतिष्ठित ,
आर्य - धर्म आश्वस्त हुआ ।
 होते हैं निविन्न यज्ञ अब
 जप - समाधि - तप - पूजा - पाठ ,
 यज्ञ गाती हैं मुनि - कन्याएं ,
 कर व्रत - पर्वोत्सव के ठाठ ।
 “धन्य” भरत योले गदगद हो—
 “दूर विकृति वैगुण्य हुआ ,
 उस तपस्विनी मेरी माँ का
 आज पाप भी पुण्य हुआ ।
 तदपि राक्षसों के विरोध की
 हुई मुझे नूतन शका ,
 विश्रुत बली - छली है रावण ,
 सोने की जिसकी लंका ।”
 “नाथ, बली हो कोई कितना
 यदि उसके भीतर है पाप ,
 तो गजभुक्तकपित्थ - तुल्य वह
 निष्फल होगा अपने आप ।”

"प्रिये, ठीक है किन्तु हमे भी
 करना है क्तव्य विचार,
 जलते जलते भी अधमेन्धन
 छिटकाता है निज अगार।
 हत वैरी का भी क्या हमको
 करना पड़ता नहीं प्रवन्ध,
 जिसमें सड़कर उसका शब भी
 फैलावे न कही दुर्गन्ध।
 पुण्य लाभ करने से भी है
 पाप काटना कठिन कठोर,
 कुसुम-चयन-सा सहज नहीं है
 काँटो से बचना उस ओर।
 पूर्व पुण्य के क्षय होने तक
 पापों भी तो दुर्जय है,
 सरला-अबला आर्या ही के
 लिए आज मुझको भय है।
 मायावी राक्षस—वह देखो!"
 चौंक वीरवर ने थोड़ा,
 दीख न पड़ा चढ़ाकर धन्वा
 कब शर जोड़ा, कब छोड़ा।

“हा लड़मण ! हा सीते !” दारुण

आर्तनाद गूंजा ऊपर,

और एक तारक-सा तत्क्षण

दूट गिरा समुख भू पर।

चौंक उठे सब “हरे ! हरे !” कह—

“हा ! मैंने किसको मारा !”

आहत जन के शोणित पर ही

गिरी भरत - रोदन - धारा ।

दीड़ पड़ी वहु दास - दासियाँ ,

मूर्च्छित-सा था वह जन मौन ,

भरत कह रहे थे सहलाकर—

“बोलो भाई तुम हो कौन ?”

कहा माण्डवी ने तब बढ़कर—

“अब आतुरता ठीक नहीं ,

सजीवनी महीपधि की हो

नाथ, परीक्षा क्यों न यही ?”

“साधु-साधु” कह स्वयं भरत ही

जाकर उसको ले आये ,

चमत्कार था, नये प्राण - से

उस आहत जन ने पाये ।

आँखे खोल देखती थी वह
 विकट मूर्ति हड्डी - कट्टी ,
 अपना अचल फाड माण्डवी
 उसे बाँधतो थो पट्टी !
 “यहाँ ! कहाँ मैं, क्या सचमुच ही
 तुम मेरो सोता माता ?
 ये प्रभु है, ये मुझे गोद में
 लेटाये लक्षणण आता ?”
 तात ! भरत, शत्रुघ्न, माण्डवी
 हम सब उनके अनुवारी ,
 म हो कौन, कहाँ कैसे हूँ
 वे खर - दूपण - संहारी ?”
 रीक वीर उठ खड़ा हो गया ,
 पूछा उसने—“कितनी रात ?”
 ‘अद्वंप्राय’ “कुशल है तब भी ,
 अब भी है वह दूर प्रभात ।
 न्य भाग्य, इस किकर ने भी
 उनके शुभ दर्शन पाये ,
 जनकी चर्चा कर सदैव ही
 प्रभु के भो आँसू आये ।

मेरे लिए न आतुर हो तुम , १
 कहाँ पाद्वं का अब वह धाव ?
 अम्बा के इस अचल - पट में
 पुलवित मेरा चिर शिशु-भाव ।
 आजनेय को अधिक कृती उन
 कात्तिकेय से भी लेखो ,
 माताएँ ही माताएँ हैं
 जिसके लिए जहाँ देखो ।
 पर विलम्ब से हानि, सुनो मैं
 हनूमान, मारुति, प्रभुदास ,
 सजीवनी - हेतु जाता है
 योग - सिद्धि से उड कैलास ।”
 “प्रस्तुत है वह यही, उसीसे
 प्रियवर, हुआ तुम्हारा नाण ।”
 “आहा । मेरे साथ बचाये ।
 तुमने लक्ष्मण के भी प्राण ।
 थोडे मे वृत्तान्त मुनो अब ।
 सर - दूपण - सहारी का ,
 तुम्हे विदित ही है वह विक्रम ।
 उन, दण्डक वन - चारी का ।

हरो हरी बनधरा रघिर से
 लाल हुई हलकी होकर,
 शूर्पणखा लका मे पहुँची,
 रावण से बोली रोकर—
 'देखो, दो तापस मनुजो ने
 कैसी गति की है मेरी,
 उनके साथ एक रमणी है,
 रति भी हो जिसकी चेरी।
 भरतखण्ड के दण्डक वन मे
 वे दो धन्वी रहते हैं,
 स्वय धुनीत—नहीं, पावन वन,
 हमे पतिन जन कहते हैं।'
 शूर्पणखा की बाते सुनकर
 क्षुब्ध हुआ रावण मानी,
 वैर-शुद्धि के मिष उस खल ने
 सीता हरने की ठानी।
 तब मारीच निशाचर से वह
 पहले कपट मन्त्र करके,
 उसे साथ ले दण्डक वन मे
 आया साधु-वेश भरके।

हेम-हरिण बन गया वहाँ पर
 आकर मायाकी मारीच,
 श्रीसीता के समुख जाकर
 लगा लुभाने उनको नीच।
 मर्म समझ हँसकर प्रभु बोले—
 'सब सुचर्म पर भरते हैं।
 इसे मार हम प्रिये, तुम्हारी
 इच्छा पूरी बरते हैं।
 भाई, सावधान।' यह कहकर
 और धनुष पर रखकर बाण,
 उस कुरग के पीछे प्रभु ने
 क्रीड़ा पूर्वक किया प्रयाण।
 अरुण-रूप उस तरुण हरिण की
 देख किरण-गति, ग्रीवाभग,
 सकरुण नरहरि राम रग से
 गये दूर तक उसके सग।
 समझ अन्त में उसका छल जो
 छोड़ा इधर उन्होंने बाण,
 'हा लक्ष्मण। हा सोते।' कहकर
 छोड़े उधर छली ने प्राण।

सुनकर उसको कातरोकि वह
 चबल हुई चौक सीता ,
 क्या जानें प्रभु पर क्या बीतो ,
 वे हो उठी महा भीता ।
 लक्ष्मण से बोली—‘शुभ-लक्षण !
 यह पुकार केसी है हाय !
 जाओ, झटपट जाकर देखो ,
 आर्यंपुत्र जैसी है हाय !’
 लक्ष्मण ने समझाया उनको—
 ‘भाभी, भय न करो मन मे ,
 कर सकता है कौन आर्य का
 अहित तनिक भी त्रिभुवन में ।
 तुम कहती हो—पर यह मेरा
दक्षिण नेत्र फड़कता है ,
 आशका - आतक - भाव से
 आतुर हृदय घड़कता है ।
 तदपि मुझे उनके प्रभाव का
 है इतना विस्तृत विश्वास ,
 हिलता नहीं केश तक मेरा ,
 क्या प्रवर्म्य है, क्या निःश्वास ।’

'विनु तुन्हारे ऐसे निन्दन
 प्राप्त कहाँ चे ने लाजे रे
 मौर कहाँ तुम्हारा जहरनिर्दय
 यह पापार हृदय पावे ?'
 वहा क्रुद्ध होकर देवी ने—
 'धर दैठो तुम, मैं जाऊँ,
 जो यों मुझे पुकार रहा है,
 किनो काम उसके आजै ?
 क्या क्षत्रिया नहीं मैं दोलो,
 पर तुम कंचे क्षत्रिय हो ?
 इतने निष्क्रिय होकर भी जो
 बनते थो स्वजनप्रिय हो !'
 'हा ! आयें, प्रिय की अप्रियता
 करने को कहतो हो तुम,
 यदि न करूँ मैं तो गृहिणी को
 भाँति नहीं रहती हो तुम।
 मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको
 तुम् क्या समझोगी देवी,
 रहा दास ही और रहैगा
 सदा तुम्हारा पद - सेवी ।

उठा पिता के भी विरुद्ध मैं ,
 किन्तु आर्य - भार्या हो तुम ,
 इससे तुम्हैं क्षमा करता हैं ,
 अबला हो, आर्या हो तुम !
 नहीं अन्ध ही, किन्तु वधिर भी ,
 अबला वधुओं का अनुराग ,
 जो हो, जाता हैं मैं, पर तुम
 करना नहीं कुटी का त्याग !
 रहता इस रेखा के भीतर ,
 वया जानें अब वया होगा ,
 मेरा कुछ वश नहीं, कर्म - फल
 कहाँ न कब किसने भोगा ?'
 कसे जिषग पीठ पर प्रस्तुत
 और हाथ मे धनुष लिये ,
 गये शीघ्र रामानुज वन मे
 आर्त - नाद को लक्ष किये ।
 शून्याश्रम से इधर दशानन ,
 मानो श्येन कपोती को ,
 हर ले चला विदेहसुता को—
 भय से अबला रोती को !"

कह सशोक 'हा !' दोनो भाई
 लगे सकोप पटकने हाथ,
 रोने लगी माण्डवी—“जीजी
 तुमसे तो उमिला सनाथ !”
 आगे सुनने को आतुर हो
 सवने यह आधात सहा,
 हनूमान ने धीरज देवर
 शीघ्र शेष दृतान्त कहा—
 “चिल्ला तक न सकी धदराकर
 वे अचेत हो जाने से,
 भाँय भाँय कर उठा किन्तु वन,
 निज लक्ष्मी खो जाने से।
 दृढ जटायु वीर ने खल के
 सिर पर उड आधात किया,
 उसका पक्ष किन्तु पापो ने
 काट केतु-सा गिरा दिया।
 गया जटायु इधर सुरपुर को
 उधर दशानन लका को,
 क्या विलम्ब लगता है आते
 आपद को, आशका को ?

आकर खुला शून्य पिंजर - सा
 दोनो ने आश्रम देखा ,
 देवी के बदले वस उनका
 विभ्रम देखा, भ्रम देखा ।
 ~ "प्रिये प्रिये, उत्तर दो मैं ही
 करता नहीं पुकार अभग ,
 शून्य कुञ्ज-गिरि गुहा गत्तं भी
 तुम्हे पुकार रहे हैं सग ।"
 लक्ष्मण ने, मैंने भी देखा ,
 सोती थी जब सारी सृष्टि ,
 एक मेघ उठ—'मीते ! सीते !'
 गरज गरज करता था वृष्टि ।
 उनके कुमुमाभरण मार्ग मे
 थे जिस ओर पडे उच्चित्त ,
 उन्हे बीनते हुए विलपते
 चले खोज बरते वे सिन्न ।
 'जिनके अलकार पाये है ,
 आर्य उन्हे भी पावेंगी ,
 सोचो, साधु भरत के भी क्या
 साधन निष्कल जावेंगे ?

पच सकती है रद्दिमराशि वया
 महाग्रास के तम से भी ?
 आर्य, उगलवा लूँगा अपनी
 आर्या को मैं यम से भी !
 मेट सकेगा बौन विश्व के
 पातिव्रत की लीक, कहो ?
 यह अम्बर उम अस्ति-शिखा को
 ढंक न सकेगा दुखो न हो !
 'काल-फणो की मणि पर्ण-जिसने
 फैलाया है अपना हाथ,
 उसी अभागे का दुख मुक्तो'—
 बोले लक्ष्मण से रघुनाथ।
 कर जटायु-सस्कार धीच मे
 दोनो ने निज पथ पकड़ा,
 आगे किसी कवन्धासुर ने
 अजगर ज्यो उनको जकड़ा।
 मारा बाहु काट वैरी को,
 बन्धु-सहस फिर दाह किया,
 सदा भाव के भूखे प्रभु ने
 शवरी का आतिथ्य लिया।

यो हो चलकर पम्पासर का
 पत्र - पुष्प - अर्पण देखा ,
 निज वृश करण-मूर्ति का मानो
 प्रभु ने वह दर्पण देखा ।
 आगे रह्यमूक पर्वत पर ,
 बानर ही कहिये, हम थे ,
 विषम प्रकृति वाले होकर भी
 आकृति मे नर के सम थे ।
 या सुग्रीव हमारा स्वामी ,
 मन के दुखो का मारा ,
 कामी अग्रज वलो बालि ने
 हर ली जिसकी धन-दारा ।
 इस किकर ने उतर अद्रि से
 दया - हष्टि प्रभु की पाई ,
 सहज सहानुभूति-वश उसपर
 प्रीति उन्होने दिखलाई ।
 लिये जा रहा था रावण-वक
 जव शफरी-सो सीता को ,
 देखा हमने स्वय तड्यते
 उन परिनो पुनीता को ।

। हिम-सम अथु और मोती का
 हार उन्होने, हमे निहार,
 उफल दिया मानो भोके से,—
 देकर निज परिचय दो बार।
 अश्रु-विन्दु तो पिरो ले गई
 किरणे स्वर्गभिरण विचार,
 उनका स्मारक छिन्न हार ही
 हुआ वहाँ प्रभु का उपहार।
 कह सुकण्ठ को बन्धु उन्होने
 किया कृतार्थ अक भर भेट,
 वर्वर पशु कह एक बाण से
 किया बालि का फिर आखेट।
 इसके पहले ही विभु-बल का
 था हमको मिल चुका प्रमाण,
 फोड़ गया था सात ताल-तरु
 वहाँ एक ही उनका बाण।

वर्षा - काल विताया प्रभु ने
 उसी शैल पर शकर - रूप,
 हुआ सती सीता के मुख-सा
 शरच्चन्द्र का उदय अनूप ।
 भूला पाकर किञ्चिन्धा का
 राज्य और दारा सुग्रीव,
 स्वयं ब्रह्म ही मायामय है,
 कितना-सा है जन का जीव ?
 भूल मित्र का दुःख शशुन्सा
 मुख भोगे, वह कैसा मित्र ?
 पहुँचे पुर मे प्रकुपित होकर
 धन्वी लक्ष्मण चारु - चरित्र ।
 तारा को आगे करके तब
 न न वानरपति शरण गया,
 देख दीन अवला को सम्मुख
 ग्रावेगी किसको न दया ?
 गये सहस्र सहस्र कीश तब
 करने को देवी की खोज,
 दी मुद्रिका मुझे प्रभुवर ने -
 केरा मुझपर स्वर्ग ज ।

दुस्तर क्या है उसे विश्व में
 प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान ?
 पार किया मकारालय मेंने
 उसे एक गोप्यद - सा मान ।
 देख एक दो विन्न घोच मे
 हुआ मुझे उलटा विश्वास—
 वाघाश्रो के भीतर ही तो
 कायं - सिद्धि करती है वास ।

२ निरख शत्रु की स्वर्णपुरी वह
 मुझे दिशा - सी भूली थी ,
 नील जलधि मे लकड़ा थी या
 नभ में सन्ध्या फूली थी !
 भीतिक विभूतियों की निधि-सी ,
 छवि की छव्रच्छाया - सी ,
 यन्त्रों - मन्त्रों - तन्त्रों की थी
 चह श्रिकूटिनी माया - सी !
 उस भव - वैभव की विरक्ति-सी
 वैदेही व्याकुल मन मे ,
 भिन्न देश की खिन्न लता-सी ,
 पहँचानी अशोक - वन मे ।

क्षण क्षण मे भय साती थी वे
 करण करण आँमू पोती थी ,
 आशा की मारी देवी उस
 दस्यु - देश मे जोती थी !
 थी उस समय रात, मैं छिपकर
 अश्रु पोछ था देख रहा ,
 आकर काल - रूप रावण ने
 उन मुमूर्ख के निकट कहा—
 'कहा मान अब भी हे मानिनि ,
 वन इस लका की रानी ,
 कहाँ तुच्छ वह राम ? कहाँ मैं
 विश्वजयी रावण मानी ?'
 'जीत न सका एक अवला का
 मन तू विश्वजयी कैसा ?
 जिन्हे तुच्छ कहता है, उनसे
 भागा क्यो, तस्कर, ऐसा ?
 मैं वह सीता हूँ, सुन रावण ,
 जिसका खुला स्वयंवर था ,
 वर लाया क्यो मुझे न पामर ,
 यदि यथार्थ ही तू नर था ?

वर न सका कापुरुष, जिसे तू,
 उसे व्यर्थ ही हर लाया,
 अरे, अभागे, इस ज्वाला को
 क्यों तू अपने घर लाया?
 भापण करने में भी तुमसे
 लग न जाय हा ! मुझको पाप,
 शुद्ध कर्हनी में इस तनु को
 अग्नि - ताप में अपने आप !
 विमुख हुई मौनव्रत लेकर
 उस खल के प्रति पतिव्रता,
 एक मास की अवधि और दे
 गया पतित, वे रही हता।
 जाकर तब देवी के सम्मुख
 मैंने उन्हें प्रणाम किया,
 प्रभु की नाम - मुद्रिका देकर
 परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया।
 'करें न मेरे पीछे स्वामी
 विषम कष्ट - सहस के काम,
 यही दुःखिनी सीता का सुख—
 सुखी रहे उसके प्रिय - राम।

मेरे घन वे धनश्याम ही ,
 जानेगा यह अरि भी अच ,
 इसो जन्म के लिए नहीं है
 राम-जानकी का सम्बन्ध ।
 देवर से कहना—मैंने जो
 मानी नहीं तुम्हारी बात ,
 उसी दोप का दण्ड मिला यह ,
 'धमा करो मुझको अब तात !'
 मैंने कहा—अम्ब, कहिए तो
 अभी आपको ले जाऊँ ?
 बोली वे—क्या चोरी चोरो
 मैं अपने प्रभु को पाऊँ ?
 माँग अनुज्ञा मैंने उनसे
 उस उपवन के फल खाये ,
 और उजाडा उसे प्रकृति-वश ,
 मारे जो रक्षक आये ।
 आया तब कुछ सैनिक लेकर
 एक पुत्र रावण का अक्ष ,
 विटपो से भट मार, अनु का
 तोड़ दिया घूंसो से वक्ष ।

तब लका पर हुई चढ़ाई ,
 सजो शृङ्ख - वानर - सेना ,
 मिल मानो दो सलिल-राशियाँ
 उमडो फैलाकर केना ।
 भग - भित्तियाँ लठा उठाकर
 सिन्धु रोकने चला प्रवाह ,
 वाँधा गया किन्तु उलटा वह ,
 सेतु रूप ही है उत्साह ।
 नीलनभोमण्डल-सा जलनिधि ,
 पुल था छायापथ-सा ठोक ,
 स्त्रीच दो गई एक अमिट-सी
 पानी पर भी प्रभु की लीक !

उधर विभीषण ने रावण को
 पुनः प्रेम - वश समझाया ,
 पर उस साधु पुरुष ने उलटा
 देशद्रोही पद पाया !

तात, देश की रक्षा का हो
 कहता हूँ मैं उचित उपाय,
 पर वह मेरा देश नहीं जो
 करे दूसरों पर अन्याय।
 किसी एक सीमा में बँधकर
 रह सकते हैं क्या ये प्राण ?
 एक देश क्या, अखिल विश्व का
 तात, चाहता हूँ मैं त्राण।
 वार धर्म पर राज्य जिन्होने
 वन का दारुण दुख भोगा,
 वे यदि मेरे बैरी होगे,
 तो फिर वन्धु कौन होगा ?
 शान्त नहीं, शासक वे सबके,
 आप न इस मद में भूलें,
 गुरुतम गज भी सह सकता है
 क्या लघु अकुश की हूँलें ?
 परनारी, फिर सती और वह
 त्याग-मूर्ति सीता-सी सृष्टि,
 जिसे मानता हूँ मैं माता,
 आप उसीपर करें कुट्टिः !

उड़ जावेगा दरध देश का
 सतो - श्वास से हो बल - वित्त ,
 राम और लक्ष्मण तो होगे
 कहने भर के लिए निमित्त ।'
 उपचारक पर रुक्ष रुण - सा
 रावण उलटा क्षुब्ध हुआ—
 'निकल यहाँ से, शशु - शरण जा ,
 जिसके गुण पर लुब्ध हुआ ।'
 'जैसी आज्ञा,' उठा विभोपण ,
 यह कह उसने किया प्रयाण—
 'जैवा इमीमें तात, मुझे भी
 निज पुलस्त्य-कुल का कल्पाण ।'
 वैरी का भाई था, फिर भी
 प्रभु ने बन्धु - समान लिया ,
 उसको शरणागत विलोककर
 हित से समुचित मान दिया ।
 कहा मन्त्रियो ने कुछ, तब वे
 बोले—'दुर्वंल हैं हम क्या ?
 छले धर्म ही हमे हमारा ,
 तो है भला यही कम क्या ?'

प्रभु ने दूत भेज रावण को
 दिया और भी अवसर एक,
 हित में अहित, अहित ही मे हित,
 किन्तु मानता है अविवेक ।
 सर्वनाशिनी वर्वरता भी
 पाती है विग्रह मे नाम,
 पड़ा योग्य ही रक्षो को हम
 क्रक्ष-वानरो से अब काम ।
 आयुध तो अतिरिक्त समझिए,
 अख आप हैं अपने अग,
 दन्त, मुष्टियाँ, नख, कर, पद सब
 चलने लगे सग ही सग ।
 मार मार हुंकार साथ ही
 निज निज प्रभु का जयजयकार,
 बहते विटप, दूबते प्रस्तर,
 बुझते शोणित मे अगार ।
 निज आहार जिन्हे कहते थे,
 राक्षस अपने मद में भूल,
 हुए अजीर्ण वही हम उनके
 मारक गुल्म, विदारक शूल ।

रण तो राम और रावण का ,
 परं परन्तु है लक्ष्मण का ,
 शौर्य - वीर्य दोनों के ऊपर
 साहस उन्हीं सुलक्षण का ।
 लड़ना छोड़ छोड़कर, बहुधा
 देखा मैंने उनका युद्ध ,
 निकले - घुसे घनों में रवि ज्यों ,
 रह न सके क्षण भर भी रह ।
 शेल-दूल, असि-परमु, गदा-घन ,
 तोमर - भिन्दिपाल, शर - चक्र ,
 शोणित वहा रही हैं रण में
 विविध सार - धाराएँ वक्र ।
 'आरे, आ, जारे, जा !' कह कह
 भिड़ते हैं जन जन के साथ ,
 घनघन, भनभन, सनसन निस्वन
 होता है हनहन के साथ !
 नीचे स्यार पुकार रहे हैं ,
 ऊपर मढ़राते हैं गिर्द ,
 सोने की लकड़ि मिट्टी में
 मिलती है लोहे से विद्ध !

भेद नहीं पाते हैं रविवर
 दिया शून्य को रज ने पाट,
 पर अमोघ प्रभु के नग सर तर
 जाते हैं अरियुल को काट।
 अपने जिन अगणित वीरो पर
 मर्वित था वह राधासराज,
 एक एक वरके भी मरकर
 हुए नगण्य अहो वे आज।
 दाँत पीसकर, ओठ काटकर,
 वरता है वह कुद्ध प्रहार
 पर हँस हँसकर हो प्रभु सबका
 करते हैं पल मे प्रतिकार।
 देखा आह। आज ही मैंने
 उन्हे क्रोध करते कुछ काल,
 वर्षीप उठे भय से हम सब भी
 वहै शशुओं वा यथा हाल?
 बुपित इद्रजित ने क्रम क्रम से
 सबको देख काल की भेट,
 — छोड़ी लक्ष्मण पर लका की
 मानो सारी शक्ति समेट।

विधि ने उसे अमोघ किया था ,
 पर न हटे रामानुज धोर ,
 इसी दास ने दौड़ उठया
 हा ! उनका तिश्वेष्ट शरीर ।

धैर्य न छोड़े आप, शान्त हो ,
 भक्षक से रक्षक बलवान ,
 उन्हे देख 'हा लक्ष्मण !' कहकर
सजल हए प्रभु जलद - समान ।
 जगी उसी करण विद्युज्ज्वाला ,
 गरज उठे होकर वे कुद्द ,—
 'आज काल के भी विरुद्ध है
 युद्ध - युद्ध बस मेरा युद्ध !
 रोऊँगा पीछे होऊँगा
 उऋण प्रथम रिपु के ऋण से ।'
 प्रलयानल - से बढ़े महाप्रभु ,
 जलने लगे शशु तृण-से ।

एक असह्य प्रकाश-पिण्ड था ,
 द्विपो तेज मे आकृति आप ,
 बना चाप हो रविमण्डल - सा ,
 उगल उगल शर-किरण-कलाप ।
 कोप - वटाक्ष छोड़ता हो ज्यो
 भृकुटि चढ़ाकर बाल कराल ,
 क्षण भर मे हो द्वित-भिन्न सा
 हुआ शशु - सेना का जाल ।
 क्षुब्ध नक जैसे पानो मे ,
 पर्वत मे जैसे विस्फोट ,
 अरि - समूह मे विभु वैसे ही
 वरते थे चोटो पर चोट ।
 कर-पद रुण्ड-मुण्ड हो रण मे
 उडते, गिरते, पड़ते थे ,
 कल कल नहीं, किन्तु भल भलवर
 रक्तस्रोत उमडते थे ।
 रिपुद्यो की पुकार भी मानो
 निष्फल जाती वारवार ,
 गूंज उसे भी दवा रही थी
 उनके धन्वा की टकार ।

निज निर्धोपों से भी आगे
 जाते थे उनके आवात ,
 मानो उस राक्षस - युगान्त में
 प्रलय - पर्योदों के पवि - पात !
 सर्वनाश - सा देख सामने
 रावण को भी कोप हुआ ,
 पर पल भर में प्रभु के आगे ॥
 सारा छल - बल लोप हुआ ।
 'वच रावण, निज वत्स-मरणात्तक ,
 वन न राम - वाणों का लक्ष ,
 मेरे वत्स - शोक का साक्षी
 बने यहाँ तेरा ही वक्ष ।
 कहाँ इन्द्रजित ? किन्तु न होऊँ
 मैं लक्ष्मण का अपराधी ,
 जिसने आज यहाँ पर उसकी
 वध - साधन - समाधि साधी ।
 राक्षस, तेरे तुच्छ बाण क्या ?
 मेरे इस उर में है शैल ,
 उसे भेलने के पहले तू
 मेरा एक विशिख हो भेल ।'

अश्व, सारथी और शत्रुघ्नि
 एक वाण ने वेघ दिया,
 मूर्च्छन छोड उन्होंने उसको
 अगणित अरिपशु-मेघ किया।
 आँधी में उडते पत्तो-से,
 दलित हुए सब सेनानी,
 पर उस मेघनाद के बदले
 आया कुम्भकरण मानी।
 'भाई का बदला भाई ही'
 गरज उठे वे धन-गम्भीर,
 गज पर पचानन - सम उसपर
 टूट पडे उसका दल चीर।
 'अनुमोदन तो नहीं किन्तु निज
 अग्रज का अनुगत हूँ मैं,
 निद्रा और बलह दो मे ही
 राघव, सन्तत रत हूँ मैं।
 वज्जदन्त, धूम्राक्ष नहीं मैं,
 नहीं अकम्पन और प्रहस्त,
 राम, सूर्य-मम होकर भी तुम
 समझो मुझको अपना अस्त !'

'निद्रा और कलह का, कौणप ,
 तू बखान कर रहा सर्व ,
 जाग, सुलाऊँ तुझे सदा को ,
 मेटूँ कलह - कामना सर्व ।'
 उस उत्पातो धन ने अपने
 उपल - वज्ज वहु वरसाये ,
 विन्तु प्रभजन - वल से प्रभु के
 उडी धज्जियाँ, शर छाये ।
 गिरा हमारे दल पर गिरि-सा
 मरते मरते भी वह धोर ,
 श्रेड धनु शर बोले प्रभु भी
 कर युग कर रावण की ओर—
 प्रा भाई, वह वैर भूलकर ,
 हम दोनो समदुःखी मित्र ,
 आ जा क्षण भर भेंट परस्पर ,
 कर लें अपने नेत्र पवित्र !'
 हाय ! किन्तु इसके पहले ही
 मूर्च्छित हुया निशाचर - राज ,
 प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से
 रावण ही सहृदय है आज !'

सन्ध्या की उस धूसरता में
 उमड़ा वरुणा का उद्रेक,
 छलक छलककर भलके ऊपर
 नभ के भी आँसू दो एक।
 हम सब हाथो पर संभालकर
 उन्हे शिविर मे ले आये,
 देख अनुज की दशा दमामय,
 दुगुने आँसू भर लाये।
 'सर्व कामना मुझे भेटकर
 वत्स, बीर्ति-कामी न बनो,
 रहे सदा तुम तो अनुगामी,
 आज अग्रगामी न बनो !'
 समझाया वैद्यो ने उनको—
 'आर्य, अधीर न हो इस भाँति,
 अब भी आशा, वही करें वस
 सफल हो सके वह जिस भाँति !'
 'तुच्छ रक्त क्या, इस शरीर मे
 डालो कोई मेरे प्राण,
 गत सुनकर भो मुझे जानकी
 पावेगी दुखो से नाण !'

द्वादश सर्ग

दाल लेखनी, सफल अन्त मे मसि भी तेरी ,
तनिक और हो जाय असित यह निशा अँधेरी ।
ठहर तमी, कृष्णाभिसारिके, कण्टक, कड जा ,
बढ सजीवनि, आज मृत्यु के गढ पर चढ जा !
भलको, भलभल भाल-रत्न, हम सबके भलको ,
हे नक्षत्र, सुधार्द - विन्दु तुम छलको छलको ।
करो श्वास-सचार वायु, बढ चलो निशा मे ,
जीवन का जय - केतु अरुण हो पूर्व दिशा मे ।
ओ कवि के दो नेत, अनल - जल दोनो वरसो ,
लक्ष्मण - सा तनु कहाँ, प्राण ! पाशोगे, सरसो ।
देखो, वह शशुध - दृष्टि मानो दहती है ,
सदय भरत, यह सुनो, माण्डवी क्या कहती है ?—

“कातर हो तुम आर्यंपुत्र, होकर नर नामी,
 तो अबला क्या करे, बता दो मुझको स्वामी?
 पर इतना भी आज तुम्हें अबकाश कहाँ है?
 पुनः परीक्षक हुआ हमारा दैव यहाँ है।
 भव ने इतना भाव - विभव हमसे है पाया,
 उस भावुक को हाय ! तदपि सन्तोष न आया।
 फिर भी सम्मुख अड़ा खड़ा वह भिषुक भूखा,
 दया करो हे नाथ, दीन का मुख है सूखा !
 हम क्या अब कुछ और नहीं दे सकते उसको?
 आदर से इस ठौर नहीं ले सकते उसको?
 क्या हम उससे नहीं पूछ सकते हैं इतना—
 (भाई, हमसे तुझे चाहिए अब क्या कितना ?)
 “प्रस्तुत हैं ये प्राण, किन्तु वह सह न सकेगा,
 इनको लेकर प्रिये, शान्ति से रहन सकेगा।
 देखूँ, जलनिधि जुड़ा सके यदि इनकी ज्वाला,—
 पहने हैं जो स्वर्णपुरी की शाला - माला !”
 “स्वामी, निज कर्त्तव्य करो तुम निश्चित मन से,
 रहो कही भी, दूर नहीं होगे इस जन से।
 डरा सकेगा अब न आप दुर्दम यम मुझको,
 है अपनों के संग भरण जीवन - सम मुझको।

तो अदृश्य है वही हमे शक्ति करता है,
 वेकृताकृतियाँ अधकार अकित करता है।
 केन्तु मुझे अब नहीं किसीका कोई भय है,
 भीषण होता स्वय निराशा - पूर्ण हृदय है।
 न सही, यदि यह लोक हमारे लिए नहीं है,
 हम सब होगे जहाँ, हमारा स्वर्ग वही है।
 दैव—अभागा दैव—हमारा क्या कर लेगा?
 श्रद्धाजलि चिरकाल भुवन भर, भर भर देगा।
 सवादो को वायु वहन कर फेलाती है,
 अन्त पुर की याद मुझे रह रह आती है।”
 “जाओ, जाओ, प्रिये, सभीको शोध सँभालो,
 यह मुख देखें शत्रु, यहाँ तुम देखो - भालो।”

उठी माण्डवी कर प्रणाम प्रिय चरण भिगोकर,
 बोले तव शत्रु शूर सम्मुख नत होकर—
 “जाओगो क्या तुम निराश ही? जाओ आयें,
 इसी भाँति इस समय स्वस्थता पाओ आयें!
 सुनती जाओ, किन्तु, तुम्हे है व्यर्थ निराशा,
 है अपना ही उदय, और अपनी ही आशा।

रुठा और अदृष्ट मनाने की बातो से,)
 तो मैं सोचा उसे करेंगा आधातो से !")
 "विजयी हो तुम तात, और क्या आज कहूँ मैं ?
 पर आज्ञा की और कहाँ तक ऐंठ सहूँ मैं ?
 मेरा भी विश्वास एक, क्यो व्यर्थ बहूँ मैं ?
 हुई आज निश्चिन्त, कही भी क्यो न रहूँ मैं ?
 जो कुछ भी है प्राप्य यहाँ, मैंने सब पाया,
 हुई पूर्ण परितृप्त हृदय की ममता - माया।
 मुझे विसीके लिए उल्टना नहीं रहा अब,
 मुझसा प्रत्यय प्राप्त करें सब और अहा ! सब !"

देकर निज गुज्जार - गन्ध मृदु - मन्द पवन को ,
 चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज - भवन को ।
 रहे सत्से भरत, कहा—“शशुभ्र !” उन्होंने ,
 उत्तर पाया—“आय !” लगे दोनो ही गेने ।
 “हनूमान उठ गये पवन - पथ से हैं कैस ?”
 “जल में पख समेट शफर सरंक ले जैसे ।
 उठना वह बातूल वेग से है कद्र ऐसे ?
 नहीं, आयं का बाण गया था उनपर, वैसे !”

“और यहाँ हम विवश बने बैठे हैं कैसे ?”
 सुन नीरव शशुभ्र रहे जैसे के तंसे ।
 “लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ?”
 “आर्य, नाम के पूर्वं साधु-पद वे देते हैं ।”
 “भारत-लक्ष्मी पट्टी राक्षसों के बन्धन मे,
 सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन मे ।
 बैठा है मैं भण्ड साधुता धारण करके—
 अपने मिथ्या भरत नाम को नामन धरके !
 कलुपित कैसे शुद्धि सलिल को आज कहूँ मैं,
 अनुज, मुझे रिपु-रक्त चाहिए, झूब मर्हूमै !
 भेटूँ अपने जड़ोभूत जीवन की लज्जा,
 उठो, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा ।
 पीछे आता रहे राज-मण्डल दल-बल से,
 पथ मे जो जो पड़ें, चलें वे जल से—थल से ।
 सजे अभो साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,
 रह न जाय अब कही किसी रावण की जका !
 माताओं से माँग विदा मेरी भी लेना,
मैं लक्ष्मण-पथ-पश्यो, ऊमिला से कहूँ देना ।
 लौटूँगा तो साथ उन्हींकि, और नहीं तो—
 नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला यही तो !”

सिर पर नत शत्रुघ्न भरत - निर्देश धरे थे ,
 पर 'जो आज्ञा' कह न सके, आवेश-भरे थे ।
 छूकर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े वे ,
 भोके पर ज्यो गन्ध, अश्व पर कूद चढ़े वे ।
 निकला पड़ता वक्ष फोटकर वीर-हृदय था ,
 उधर धरातल छोड़ आज उड़ता-सा हय था ।
 जैसा उनके क्षुब्ध हृदय मे घड घड घड था ,
 वैसा ही उस वाजि-वेग मे पड़ पड़ पड़ था ।
 फड़ फड़ करने लगे जाग पेड़ो पर पक्षी ,
 अपलक था आकाश घपल-वल्गित-गति-लक्षी ।
 क्षण भर वह छवि देख स्वय विधि की मति मोही ,
 सिरजा न हो तुरग - अग करके आरोही ।
 उठ कोंधा - सा त्वरित राजतोरण पर आया ,
 प्रहरी-दल से सजग सैन्य - अभिवादन पाया ।
 कूद पड़ा रणधीर, एक ने अश्व सौभाला
 नीरव ही सब हुआ, न कोई बोला - चाला

अन्त पुर मे वृत्त प्रथम ही धूम फिरा था
 सबके सम्मुख विपम वज्जन्सा टूट गिरा था

माताम्रो की दशा—हाय ! सूखे पर पाला ,
 जला रही थी उन्हे कौंगाकर ठड़ी ज्वाला ।
 “अम्ब, रहे यह रुद्धन, वीरसू तुम, व्रत पालो ,
 ठहरो, प्रस्तुत धैर वहिं पर नीर न ढालो ।
 हमने प्रेम-प्रयोधि भरा आँखो के जल से ,
 द्विपद्मयु अब जले हमारे द्वेषानल से ।
 मात, कातर न हो, अहो ! दुक धीरज धारो ,
किनको पत्नो और प्रसू तुम, तनिक विचारो ।
 असुरो पर निज विजय सुरो ने पाई, जिनसे ,
 और यही त्रिच स्वर्ग-सगुणता आई जिनसे ।
 जननि, तुम्हारे जात आज उन्नत हैं इतने ,
 उनके करगत हुए आप ऊंचे फल जितने ।
 कही नीच अह विन्नरूप होकर अटकेंगे ,
 तो हम उनको तोड शिलाम्रो पर पटकेंगे ।
 धर्म तुम्हारो ओर, तुम्हे किसका भय है ?
 जीवन मे ही नही, मरण मे भी निज जय है ।
 मरें भले ही अमर, भीगते हैं जो जीवन ,
 मर मरकर नर अमर कोत्तनामृत पी पीकर ।
 जनकर हमको स्वय जूझने को, रोती हो ?
 गर्व करो, पर्यो व्यर्थ दीन-दुर्बल होतो हो ।

करे हमारा वैरि - बृन्द ही कातर - क्रन्दन ,
दो हमको आशीष अम्ब, तुम लो पद-वन्दन ।”

“इतना गौरव वत्स, नहीं सह सकती नारी ,
पिसते हैं ये प्राण, भार है भोपण भारी ।
पाते हैं अवकाश निकलने का भी क्व ये ?
कहाँ जायें, क्या करें अभागे, अकृती अव ये ?
किये कौन व्रत नहीं, कौन जप नहीं जपे हैं ?
हम सबने दिन - रात कौन तप नहीं तपे हैं ?
फिर भी ये क्या प्राण यहीं सुनने को ठहरे ?
हुए देव भी हाय ! हमारे अन्धे - वहरे ।”

“अम्ब, तुम्हारे उन्हीं पुण्य-कर्मों का फल है ,
हम सबमें जो आज धर्म - रक्षा का बल है ।
थकता है क्यों हृदय हाय ! जब वह पक्ता है ?
सुरगण उलटा आज तुम्हारा मुहं तकता है ।”

“वेटा, वेटा, नहीं समझती हूँ यह सब में ,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अव में ।
हाय ! गये सो गये, रह गये सो रह जावे ,
जाने दूँगी तुम्हे न, वे आवे जब आवें ।
तुष्ट तुम्हीमे उन्हें देखकर रही, रहूँगी ,
तुम्हें छोड़कर निराधार में कहाँ बहूँगी ?

देखूँ तुझको कौन छीनने मुझसे आता ?”
 पकड़ पुत्र को लिपट गई कोसल्या माता ।
 धाढ़ मारकर विलख रो पड़ी रानी भोली ,
 पाश छुड़ाती हुई सुमित्रा तब यो बोली—
 “जोजो, जोजो, उसे छोड़ दो, जाने दो तुम ,
 सोदर की गति अमर - समर में पाने दो तुम ।
 सुख से सागर पार करे यह नागर मानी ,
 बहुत हमारे लिए यही सरयू में पानी ।
 जा, भैया, आदर्श गये तेरे जिस पथ से ,
 कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से ।
 जिस विधि ने सविदोष दिया था मुझको जैसा ,
 लौटातो हूँ आज उसे बैसा का बैसा ।”
 पोँछ लिया नयनाम्बु मानिनी ने अंचल से ,
 कैकेयी ने कहा रोककर आँसू बल से—
 “भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी ,
 ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?
 मूर्त्तिमती आपत्ति यहाँ से मुहँ मोड़ेगी ,
 शत्रु-देश-न्यासा ठौर मिला, वह क्यों छोड़ेगी ?”
 “अम्ब, अम्ब, तुम आत्म-निरादर करती हो क्यों ?
 दे तब नव यश हमें, अयश से डरती हो क्यों ?

क्षमा करो, आपत्ति मुझे भी लगती थी तुम, भार्ग-दर्शनी किन्तु ज्योति-सी जगती थी तुम।”

“वत्स, वत्स, पर कौन जानता उसकी ज्वाला, उसके माथे वही धुवां है काला काला।”

“जलता है जो जननि, जागकर वही जगाता, जो इतना भी नहीं जानता, हाय! छाता।”

“मैं निज पति के सग गई थी अमुर-समर में, जाऊँगी अब पुन सग भी अरि-सगर में।”

“धर बेठो तुम देवि, हेम को लका कितनी?

उतनी भी तो नहीं, धूल मुद्दी भर जितनी।

भरतखण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गये हैं, कट उनके वे कोटि कोटि कर नहीं गये हैं।

रोना-धोना छोड, उठो सब मगल गाओ, जाते हैं हम विजय-हेतु तुम दर्प जगाओ।

रामचन्द्र के सग गये हैं लक्ष्मण बन में, भरत जायें, शशुद्ध रहे क्या आज भवन में?

भाभी, भाभी सुनी, चार दिन तुम सब सहना, ‘मैं लक्ष्मण-पथ-पथी’ आयं का है यह कहना—लीटूंगा तो सग उन्हींके ओर नहीं तो—नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो।”

ताराहारा चारु - चपल चाँदी की धारा ,
लेकर एक उसाँस वीर ने उसे निहारा ।
सफल सौध-भू-पटल व्योम के अटल मुकुर थे ,
उडुगण अपना रूप देखते दुकुर दुकुर थे ।
फहर रहे थे केतु उच्च अट्टो पर फर फर ,
डाल रही थी गन्ध मृदुल मारुत—गति भर भर ।
स्वयमपि सशयशील गगन धन-नील गहन था ,
मोन-मवर, वृप-सिंह पूर्ण सागर या वन था ।
झोके भिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के ,
खिल खिल, हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के ।
निमिर-अक मे जव अशक तारे पलते थे ,
स्नेह - पूर्ण पुर दीप दीप्ति देकर जलते थे ।
धूम - धूप लो, अहो उच्च ताराओ, चमको ,
लिपि मुद्राओ,—भूमि-भाग्य की, दमको दमको ।

करके ध्वनि - सकेन शूर ने शख वजाया ,
अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया ।
निवल उठा उच्चव्यास वक्ष से उभर उभर के ,
हुआ कम्बु शृतकृत्य वण्ठ को अनुकृति बरके ।

उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानो ;
 एक-एक दो हुए, जिन्हे एकादश जानो !
 यों ही शस्य अस्स्य हो गये, लगी न देरी,
 घनन घनन वज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी ।
 काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी,
 द्यिषी क्षितिज में कही, सभय निद्रा उठ भागी ।
 बोले वन में मोर, नगर में ढोले नगर,
 करने लगे तरग-भग सौ सौ स्वर-सागर ।
 उठी क्षुब्ध-सी अहा ! अयोध्या की नर-सत्ता,
 सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता ।
 भय-विस्मय को शूर-दर्प ने दूर भगाया,
 किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया !
 प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शख्सों पर थे,
 त्रस्त-बधू-जन-हस्त स्तस्त-से वख्तों पर थे ।
 प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
 बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया !
 अपनी चिन्ता भूल उठी माता भट लपकी,
 देने लगी सौभाल बाल-बच्चों को शपकी—
 “भय क्या, भय क्या हमे, राम राजा हैं अपने,
 दिया भ्रतन्ता सुफल प्रथम ही जिनके तप ने !”

चरर - मरर खुल गये अरर वहु रबस्फुटो से ,
 क्षणिक रुद्ध थे तदपि विकट भट उर पुटो से ।
 वाधि थे जन पाँच पाँच आयुध मन भाये ,
 पचानन गिरि - गुहा छोड ज्यो बाहर आये ।
 "धरने आया कौन आग, मरियो के धोसे ?"
 स्थिराँ देखने लगी दीप धर, खोल भरीखे ।
 "ऐसा जड है कौन, यहाँ भी जो चढ आवे ?
 वह थल भी है कहाँ, जहाँ निज दल वह जावे ?
 राम नही धर, यही सोचकर लोभी - मोही ,
 क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही ?
 मरा अभागा, उन्हे जानता है जो बन मे ,
 रमे हुए है यहाँ राम - राधव जन जन मे ।"
 "पुरुष - वेश मे साथ चलूंगी मैं भी प्यारे ,
 राम - जानकी सग गये, हम ध्यो हो न्यारे ?"
 "प्यारी, धर ही रहो ऊमिला रानी - सी तुम ,
 क्रान्ति-प्रनन्तर मिलो शान्ति मनमानी सी तुम ॥"
 पुत्रो को नत देख धानियाँ बोली धीरा—
 —"जाओ वेटा,—'राम-काज, क्षण-भग शरीरा' ।"
 पति से बहने लगी पत्नियाँ—"जाओ स्वामी ,
 बने तुम्हारा बत्स तुम्हारा ही अनुगामी ।

जामो, अपने राम - राज्य की आन बड़ामो ,
बीर - वश की बान, देश का मान बड़ामो ।”

“अम्ब, तुम्हारा पुत्र पैर पोद्दे न घरेगा ,
प्रिये, तुम्हारा पति न मूँख से कही डरेगा ।
फिर भी फिर भी यहो ! विकल-सी तुम हो रोती ?”
“हम यह रोती नहीं, वारती मानस - मोती !”

‘ऐसे अगणित भाव उठे रघु - सगर - नगर मे ,
बगर उठे बड़ अगर - तगर - से डगर छगर मे ।
चिन्तित - से कापाय - वसन्धारी सब मन्ती ,
आ पहुँचे तत्काल, और बहु यन्ती - तन्ती ।
चचल जल - थल - बलाध्यक्ष निज दल सजते थे ,
झनभन घनघन समर - वाद्य बहु विध बजते थे ।
पाल उडाती हुई, पर फैलाकर नायें—
प्रस्तुन थी, कब विघर हसनी-सो उठ जायें ।
हिलने डुलने लगे पक्षियो मे घेंट बेडे ,
थपकी देने लगी तरगें मार घेडे ।
उलकाएं सब और प्रभा - सी पाट रही थी ,
पी पीकर पुर - तिमिर जीभ - सी चाट रही थी ।

हुई हतप्रभ नभोजित हीरो की कनियाँ ,
 मुक्काम्हो - सी वेध न ले भालो की अनियाँ ।
 तुले धुले - से खुले खड़ग चमचमा रहे थे ,
 तप सादियो के तुरग तमतमा रहे थे ।
 हीस लगामे चाव, धरातल खूंद रहे थे ,
 उड़ने को उत्तरण कभी वे कूंद रहे थे ।
 करके धटा - नाद, शख्त लेकर भुण्डो मे ,
 दो दो हृष रद - दण्ड दबाकर निज तुण्डो मे ,
 अपने मद की नहीं आप ही ऊमा सहकर ,
 भलते थे श्रुति - तालवृन्त दत्ती रह रहकर ।
 योद्धाम्हो का धन सुवर्ण से सार सलोना ,
 जहाँ हाथ मे लौह वहाँ पैरो मे सोना ।
 मानो चले सगेह रथोजन बैठ रथो मे ,
 आगे थे टकार और भकार पथो मैं ।

पूर्ण हुआ चौगान राज - तोरण के आगे ,
 कहते थे भट—“कहाँ हमारे बाजु अभागे ?”
 दृग असमय उन्निद्र और भो अरुण हुए थे ,
 प्रोढ - जरठ भी आज तेज से तरुण हुए थे ।—

पीवर-मासल अस, पृथुल उर, लम्बी बाँहे,
 एकाकी हो शेष-भार ले लै, यदि चाहे !
 उछल उछल कच-गुच्छ विखरते थे कन्धो पर,
 रण-ककण थे खेल रहे दृढ़ मणिबन्धो पर।
 खचित-तररिण, मणि-रचित केतु भक्तका रहे थे,
 वस्त्र घकधका रहे, शस्त्र भक्तका रहे थे।
 हो होकर उद्ग्रीव लोग टक लगा गहे थे,
 नगर-जगैया जगर-मगर जगमगा रहे थे।

चतर अरिन्दम प्रथम खण्ड पर आकर ठहरा,
 तप्त स्वरण का बर्ण दृप्त-मुस पर था गहरा।
 हाथ उठाये जहाँ उन्होने, सन्नाटा था,
 सैन्य-तिन्धु में जहाँ ज्वार था, अब भाटा था !
 गूँगा सदा प्रकाश, फैनता है नि स्वन-सा,
 किन्तु वीर का उदय अरुण-सा था, स्वर धन-सा,
 “सुनो सैन्यजन, आज एक नव अवसर आया,
 मैंने असमय नहीं, अचानक तुम्हे जगाया।
 जो आकस्मिक वही अधिक आकर्षक होता,
 यह साधारण बात, काटता है जो बोता।

कलीव-कापुरुप जाग जागकर भी है सोता ,
 पर साके को शूर स्वप्न में भी कब खोता ?—
 साका, साका, प्राज वही साका है शूरो ,
 सिन्धु-पार उड रहो यही स्वपताका शूरो !
 सिन्धु, कहाँ अब सिन्धु ? हुआ है जल भी थल-सा ,
 वंधा विपुल पुल, खुला आयंकुल का अर्गत-सा !
 यह सब किसने किया ? उन्ही प्रभु पुरुषोत्तम ने ,
 पाया है पुण-धर्म-रूप में जिनको हमने !
 होकर भी चिरसत्य-मूर्ति है नित्य नये जो ,
 भव्य भोग रख, दिव्य योग के लिए गये जो ।
 हम जिनका पय देख रहे हैं, कब वे आवें ?
 कब हम निज धृति -धाम राम राजा को पावें ?
 तो फिर आओ वीर, तनिक आगे बढ़ जावें ,
 उनके पीछे जायें, उन्हें आगे कर लावें ।
 चलना भर है हमें, मार्ग है बना बनाया ,
 मकरालय भी जिसे दीन में रोका न पाया ।
 किया उन्होने स्वच्छ उसे, हम अटकेंगे क्यों ?
 चरण-चिह्न हैं वने, भूलकर भटकेंगे क्यों ?

दुर्गम दक्षिण - मार्ग समझकर ही निज मन में ,
 चित्रकूट से आर्य गये थे दण्डक वन में ।
 शंकाएँ हैं जहाँ, वही धीरों की मति है ,
 आशंकाएँ जहाँ, वही वीरों की गति है ।
 लंका के क्रव्याद वहाँ आकर चरते थे ,
 भोले भाले शान्त सदय कृपि-मुनि मरते थे ।
 सफल न करते आर्य भला फिर वन जाना क्यों ?
 पुण्यभूमि पर रहे पापियों का थाना क्यों ?
 भरत खंड का द्वार विश्व के लिए खुला है ,
 भुक्ति-मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है ।
 पर जो इसपर अनाचार करने आवेगे ,
 नरकों में भी ठौर न पाकर पद्धतावेगे ।
 जाकर प्रभु ने वहाँ धर्म-संकट सब मेटा ,
 जय-लक्ष्मी ने उन्हें आप ही आकर भेटा ।
 दुष्ट दस्यु दल बाँध, रुष्ट होकर हाँ, आये ,
 पर जीवित वे नहीं एक भी जाने पाये ।
 खंखाड़ों-से उड़े शत्रु, पर पड़े अनल मे ,
 प्रभु के शर हैं ज्वाल-रूप ही समरस्थता में ।
 सौ झोकि क्या एक अचल को घर सकते हैं ?
 एक गरुड़ का सौ भुजंग क्या कर सकते हैं ?

— पहुँचा यह सचाद अन्त में उस रावण तक ,
 जो निज गो-द्विज-देव-धर्म-कर्मों का कण्टक ।
 उसी क्रूर को काढ, दूर करने भव - भय को ,
 वन भेजा हो कही न माँ ने ज्येष्ठ तनय को ?
 तपकर विधि से विभव निशाचरपति ने पाया ,
 वही पाप कर आप राम से मरने आया ।
 किन्तु सामना करने राका पापी जब वल से ,
 अबला हरने चला साधु - वेशी खल छल से ।

सुनने को हुङ्कार संनिको, यहो तुम्हारी ,
 जिसके आगे उडे शशु को मति - गति सारी ,—
 सहसा मैंने तुम्हें जगाया है, तुम जाए ,
 नाच रही है विजय प्रथम ही अपने आगे ।
 किन्तु विजय तो शरण, मरण में भी वीरों के ,
 चिर - जीवन है कीर्ति - वरण में भी वीरों के ।
 भूल जयाजय और भूलकर जीना - मरना ,
 हमको निज कर्तव्य मात्र है पालन करना ।
 जिस पामर ने पतिव्रता को हाथ लगाया ,—
 उसको—जिसने अतुल विभव उसका ढुकराया ,

प्रभु हैं स्वयं समर्थ, पाप - कर काटें उसके,
 राम - वाणि हैं सजग, प्राण जो चाटें घुसके।
 करता है प्रतिशोध किन्तु आह्वान हमारा,
 जगा रहा है जाग हमे अभिमान हमारा।
 खीच रहा है आज ज्ञान ही ध्यान हमारा,
 लिखे शशु - लंका - सुवर्ण आह्यान हमारा।
 हाय ! मरण से नहीं किन्तु जीवन से भीता,
 राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता।
 बन्दीगृह मे बाट जोहती खड़ी हुई है,
 व्याध - जाल मे राजहसनी पड़ी हुई है।
 अबला का अपमान सभी बलवानों का है,
 सती - धर्म का मान मुकुट सब मानो का है।
 बीरो, जीवन - मरण यहाँ जाते आते हैं,
 उनका श्रवसर किन्तु कहाँ कितने पाते हैं ?
 मारो, मारो, जहाँ वैरियों को तुम पाओ,
 मर मरकर भी उन्हें प्रेत होकर लग जाओ !
 है अपनों को छोड़ मुक्ति भी अपनी कारा,
 पर अपनों के लिए नरक भी स्वर्ग हमारा !
 पेर धरें इस पुण्यभूमि पर पामर पापी,
 कुल - लक्ष्मी का हरण करें वैसहज सुरापी,

भर लो उनका सधिर, करो आपनो का तर्पण ,
 मास जटायु - समान जनो को कर दो अर्पण ।
 यात्रा मे उत्साह - योग ही मुख्य शकुन है ,
 फल की चिन्ता नहीं, धर्म को हमको धुन है ।
 मर क्या, अमर अधीन हमारे कर्मों के हैं ?
 साक्षी जो मन, बुद्धि और इन मर्मों के हैं ।
 धन्य, वन्यजन भी न सह सके यह अपकर्पण ,
 करते हैं वे कूद कूदकर धन सर्वण ।
 चलो चलो नरवरो, न वानर ही यश लें तें ,
 वे ले लें भुज बोस, सीस ही हम दश लें ।
 साधु ! साधु ! यी मुझे यहो आशा तुम सबसे—
 'नामशेय रह जायें वाम बंरो बस अब से ।'
 निश्चय—'हमको उन्हें मारना है या मरना ।'
 जब मरने से नहीं, भला तब किससे डरना ?
 पौधे - से हम उगे एक क्यारी मे बोये ,
 माली हमे उखाड ले चला तो हम रोये ।
 किन्तु बन्धु, वह हमे जहाँ रोपेगा किर से ,
 होगा यदा उपयुक्त न वह इस मुक्त अजिर से ?
 तदपि चुनौतो आज हमारो स्वयमपि यम वो ,
 विश्रुत सजीवनो प्राप्त है अद्भुत हमको !

अपने कपर आप परीक्षा उसको करके,—
 आजनेय ले गये उसे यह अम्बर तरके।—
 लक्षा की खर - शक्ति आर्य लक्ष्मण ने भेली,
 उनकी रक्षा उसी महीयधि ने सिर ले ली।
 मारा प्रभु ने कुम्भकण - सा निर्मम नामी,
 हुआ विभोपण स्वय शरण मनु बुल अनुगामी।
 अब क्या है बस, वीर, वारण से छूगे, छूटो,
 सोने की उस शत्रु - पुरी लका को लूटो।”
 “नहीं, नहीं”—सुन चौंक पडे शत्रुघ्न और सब,
कपा - सो आगई ऊमिला उसी ठीर तव।
 वीणागुलि - सम सती उतरती - सी चढ धाई,
 तालपूति - सी सग सखी भी खिचती आई।
आ शत्रुघ्न - समोप रुकी लक्ष्मण की रानी,
 प्रकट हुई ज्यो कार्त्तिकेय के निकट भवानी।
जटा - जाल - से वाल विलम्बित छूट पडे थे,
 आनन पर सौ अरुण, घटा मे फूट पडे थे।
 माथे का सिन्दूर सजग अगार - सदृश था,
 प्रथमातप सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था।
 वायाँ वर शत्रुघ्न - पृष्ठ पर कण्ठ - निकट था,
 दायें कर मे स्थूल किरण-सा शूल विकट था।

गरज उठी वह—“नहीं, नहीं, पापी का सोना,
 यहाँ न लाना, भले सिन्धु मे वही ढुबोना।
 धीरो, धन को आज ध्यान मे भी मत लाओ,
 जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।
 सावधान ! वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना,
 तुम्हे तुम्हारी मातृभूमि ही देगी ढूना !
 किस धन से हैं रिक्त कहो, सुनिकेत हमारे ?
 उपवन फल-सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।
 जय परस्य-परिपूर्ण सुधोपित धोप हमारे ;
 अगणित आकर सदा स्वर्ण-भणि-कोप हमारे।
 देव दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
 उसी भूमि की सुता पुण्य की प्रतिमा सीता।
 मातृभूमि का मान ध्यान मे रहे तुम्हारे,
 लक्ष लक्ष भी एक लक्ष रखें तुम सारे।
 हैं निज पाथिव-सिद्धि-रूपिणी सीता रानी,
 और दिव्य-फल-रूप राम राजा बल-दानी।
 करे न कौणप-गन्ध कलकित मलय पवन को,
 लगे न कोई कुटिल कीट अपने उपवन वो।
 विन्ध्य-हिमालय-भान, भला ! भुक जाय न धीरो,
 चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो !

चढ़कर उतर न जाय, सुनो बुल-मौक्किक मानी ,
 गगा-यमुना-सिन्धु और सरयू का पानी ।—
 बटकर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थल से ,
 मिये दिग्विजय बार बार तुमने निज बल से ।
 यदि, परन्तु बुल-बान तुम्हारी हो सबट मे ,
 तो अपने ये प्राण व्यर्थ हो हैं इस घट मे ।
 जिसका बुल है आर्य बना अपने कार्यों से ?
 पढ़ा न विसने पाठ अवनितल मे आर्यों से ?
 पावे तुमसे आज शशु भी ऐसी शिक्षा ,
 जिसका अथ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा ।
 देखो, निकली पूर्व दिशा से अपनी झपा ,
 यही हमारी प्रवृत्त पताका, भव को भूपा ।
 ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति-सी आगे आगे ,
 भोगे अपने विपम वर्म-फल अधम अभागे ॥”

भाल - भाग्य पर तने हुए थे तेवर उसके ,
 “भाभी ! भाभी” रद्द बण्ठ थे देवर उसके ।
 सम्मुख संन्य समूह सिन्धु-सा गरज रहा था ,
 वरज विनय से उसे, शशु पर तरज रहा था ।

“क्या हम सब मर गये हाय ! जो तुम जाती हो ,
 या हमको तुम आज दीन - दुर्बल पाती हो ?
 मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जावेंगे ,
 अपनी लक्ष्मी लिये विना क्या घर आवेंगे ?
 होगा होगा वही, चचित है जो कुछ होना ,
 इस मिट्टी पर सदा निदावर है वह सोना ।
 तुम इस पुर की ज्योति, अहो ! यों धैर्य न खोओ ,
 प्रभु के स्वागत-हेतु, गीत रच, याल सौजोओ ।”

“बीरो, पर, यह योग भला क्यों खोऊँगी मैं ,
 अपने हाथों धाव तुम्हारे धोऊँगो मैं ।
 पानी ढूँगो तुम्हे, न पल भर सोऊँगो मैं ,
 गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगो मैं ।”

[२]

“शान्त, शान्त !” गम्भीर नाद सुन पड़ा अचानक ,
 मूँज उठा हो यथा अवनि पर ग्रन्थर - आनक !
 कुलपति वृद्ध वसिष्ठ आगये तप के निधि-से ,
 हंस-वश-गुरु, हंसनिष्ठ, एकानन विधि-से ।

सेना को जो प्रलयकारिणी घटा उठी थी ,
 अब उसमे नत-नम्र-भाव की छटा उठी थी ।
 सैन्य - सर्प, जो फग्गा उठाये फुङ्कारित थे ,
 सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे ।
 “शान्त, शान्त ! सब सुनो कहाँ जाते हो, ठहरो ,
 शौर्य-वीर्य के सधन घनानन, व्यर्थ न घहरो ।
 लका विजितप्राय, तनिक तुम धीरज घारो ,
 अच्छा, लो, सब इधर क्षितिज की ओर निहारो ।”
 मन्त्र - यष्टि - सी जहाँ उन्होने भुजा उठाई ,
 दूरदृष्टि - सी एक साथ ही सबने पाई ।
 देखा, सम्मुख दृश्य आप ही खिन आया है ,
 अन्धकार में उदित स्वप्न की - सी माया है ।
 लहराता भरपूर सामने वरणालय है ,
 युग युग का अनुभूत विश्व का करणालय है ।
 उसमे लङ्का-द्वीप कनक-सरसिज शोभन है ,
 लङ्का के सब ओर घोर-जङ्गम-जन-वन है ।
 राम शिविर मे,—शरदृघनो मे नीलाचल-से ,
 भीग रहे है उत्स - रूप आँखो के जल - से ।
धातुराग - से पडे अक मे लक्ष्मण उनके,
 बीत रहे हैं हाय । कल्प जैसे क्षण उनके ।

जाम्बवन्त, नल, नील, अगदादिक सेनानी,
 रामानुज को देख आज सब पानो पानो ।
 सहलाते सुग्रीव - विभीषण युग पद - तल है,
 वैद्य हाथ में हाथ लिये नीरव निश्चल हैं ।
 जडीभूत - से हुए देख साकेत - निवासी,
 बोल सके कुछ भी न,—हुए यद्यपि अभिलापी ।
तदपि ऊर्मिला ने प्रयास कर हाथ उठाया,—
 देखा अपना हृदय, मन्द - सा स्पन्दन पाया !
 बोल उठे प्रभु चौक भरत ने भी सुन पाया—
 “भाई, भाई ! उठो, सबेरा होने आया ।
 मारुं रावण - सहित इन्द्रजित को मैं, जाओ,—
 तुम इस पुर का राज्य विभीषण को दे आओ !
 चलो, समय पर मिलें अयोध्या जाकर सबसे,
बधू ऊर्मिला मार्ग देखती है घर कब से ?
 आये थे तुम साथ हमे सुख ही देने को,
 लाये हम भी तुम्हें न थे अपयश लेने को ।
 तुम न जगे तो सुनो, राम भी सो जावेगा,
 सीता का उद्धार असम्भव हो जावेगा ।
 वीर, कहो फिर कहाँ रहेगी बात तुम्हारी ?
 क्षत्रियत्व कर रहा प्रतीक्षा तात, तुम्हारो !

अथवा जब तक रात, और सोश्चो तुम भ्रातः ,
 देखेंगे अरि - मित्र पद्म - सा तुमको प्रातः ।
 राम-वाणि ढड धेद सुधाकर में कर देगा ,
 अमृत तुम्हारे लिए सुमधु-सा टपका लेगा !
 हनूमान को बाट देख लूँ क्षण भर भाई !”
 “समुपस्थित यह दास” पास ही पड़ा सुनाई ।
 बुरे स्वप्न में वीर आगया उद्वोधन-सा ,
 श्रोपधि सेकर किया वैद्य ने व्रण-शोधन-सा ।
 संजोवनी-प्रभाव धाव पर सवने देखा ,—
 शशु-लौहलिपि हुई अहा ! पानी को लेखा ।
 फैल गया आलोक, दूर होगया अँधेरा ,
 रवि ने अपना पद्म प्रफुल्लित होता हेरा !”
 चमक उठा हिम-सलिल रात भर वहते वहते ,
 जाग उठे सौमित्रि-सिंह यह कहते कहते—
 “धन्य इन्द्रजित ! किन्तु संभल, वारी अब मेरी !”
 चौक उन्होने हृषि भ्रान्त भौरी - सी फेरी ।
 उन्हें हृदय से लगा लिया प्रभु ने भुज भरके ,
 अधिव - अङ्क में उठे कलाघर यथा उभरके !
 “भाई, मेरे लिए लौट फिर भी तू आया ,
 जन्म जन्म का इसी जन्म मे मैंने पाया !”

मैं तो उठ भी सका शशु की शक्ति ठेलकर ,
 किन्तु उठेगा शशु न मेरा शेल भेलकर ।—
 वानरेन्द्र, कृक्षेन्द्र, यरो प्रस्तुत सब सेना ,
 रिपु का व्रण - रुण मुझे अभी चुकता कर देना ।
 जय जय राघव राम ॥” कहा लक्ष्मण ने ज्यो ही ,
 गरज उठा सब कटक विकट रव करके त्यो ही ।
 वह लका की ओर चला चारो द्वारो से ,
 उमडा प्रलय - पयोधि घुमड सौ सौ ज्वारो से ।

चौडे चौडे चार वक्ष - से लका गढ़ के ,
 त्रोडे द्वार - कपाट कटक मे बढ़के, चढ़के ।
 प्रथम वेग से बचे शशु जो सजग खडे थे ,
 हरके अब हुङ्कार प्रेत - से दूट पडे थे ।
 इल-वादल भिड गये, घरा धौंस चली धमक से ,
 पड़क उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक दमक से ।
 रण - भेरी की गमक, सुभट नट - से फिरते थे ।
 गल ताल पर रुण - मुण्ड उठते - गिरते थे ।
 छंत - भिज्ज थे वक्ष, कण्ठ, मस्तक, कर, कन्धे ,
 ए क्रोध से उभय पक्ष थे मानो अन्धे ।

“प्रस्तुत है यह दास आर्य - चरणों का चेरा ,
 किन्तु कहाँ वह मेघनाद प्रतिपक्षी मेरा ?”
 “लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! हाय ! न च चल हो पल पल मे ,
 क्षण भर तुम विश्राम करो इस अकस्यल मे ।”
 “हाय नाय ! विश्राम ? शशु अब भी है जीता ,
 कारागृह में पड़ी हमारी देवी सीता !
 जब तक रहा अचेत अवश्य या आप पड़ा मै ,
 अब सचेत हूँ और स्वस्थ - सन्धार खड़ा मै ।
 बीत गई यदि अवधि भरत की क्या गति होगी ?
 घरे तुम्हारा ध्यान एक युग से जो योगी ।
 माताएँ निज अङ्कु - दृष्टि भरने को बैठी ,
 पुर - कन्याएँ कुसुम - वृष्टि करने को बैठी ।
 आर्य अयोध्या जायें, युद्ध करने मैं जाऊँ ,
 पहले पहुँचे आप और मैं पीछे आऊँ ।
 यदि बैरी को मारन कुल - लक्ष्मी को लाऊँ ,
 तो मेरा यह शाप मुझे—मैं सुगति न पाऊँ !”
 “ऐसे पाकर तात ! तुम्हें कैसे छोड़ूँ मैं ?”
 “किन्तु आर्य, क्या आज शशु से मुहें मोड़ूँ मैं ?
 व्यर्थ जिया मैं, हुम्हा आर्य को मोह यही तो ,
 दूना बदला आप चुकाते आज नहीं तो !

मैं तो उठ भी सका शत्रु की शक्ति ठेलकर ,
 किन्तु उठेगा शत्रु न मेरा शेल भेलकर ।—
 वानरेन्द्र, कृष्णेन्द्र, करो प्रस्तुत सब सेना ,
 रिपु का व्रण - व्रण मुझे अभी चुकता कर देना !
 जय जय राघव राम !” कहा लक्ष्मण ने ज्यो ही ,
 गरज उठा सब कटक विकट रव करके त्यो ही ।
 वह लका की ओर चला चारो द्वारो से ,
 उमडा प्रलय - पयोधि घुमड सौ सौ ज्वारो से ।

चौडे चौडे चार वक्ष - से लका गढ़ के ,
 तोडे द्वार - कपाट कटक ने बढ़के, चढ़के ।
 प्रथम वेग से बचे शत्रु जो सजग खडे थे ,
 करके अब हुँड़ार प्रेत - से टूट पडे थे ।
 दल-बादल भिड गये, घरा धौंस चली घमक से ,
 भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक दमक से ।
 रण - भेरी की गमक, सुभट नट - से फिरते थे !
 ताल ताल पर रुण्ड - मुण्ड उठते - गिरते थे !
 छिन्न - भिन्न थे वक्ष, कण्ठ, मस्तक, कर, कन्धे ,
 हुए क्रोध से उभय पक्ष थे मानो अन्धे ।

मिला रक्त से रक्त, वैर-सम्बन्ध फला थों,
 थीर-वरों के पेर वहाँ धुलते न भला क्यों !
 अग पक्कि का पतन जिधर होता जैसे ही,
 थड़ पोछे को पंक्ति पूति करतो थेसे ही ।
 दो धाराएं उमड़ उमड़ समुख टकरातीं,
 उठतीं होकर एक और गिरतीं, चकरातीं ।
 मची खलवती गली गली में लंकापुर की,
 अँसो में आ भाँक उठी आतुरता उर की ।
 आया रावण जिधर दिव्य-रथ में राघव थे,
 क्या ही गौरव भरे आज प्रभु-कर-लाघव थे ।
 गरजा राक्षस—“ठहर, ठहर तापस, मैं आया,
 जीकर तेरा शोक-मात्र लक्ष्मण ने पाया !
 पंचानन के गुहा-द्वार पर रक्षा किसकी ?
 मैं तो हूँ विख्यात दशानन, सुध कर इसकी !”
 हेस बोले प्रभु—“तभो द्विगुण पशुता है तुम्हें,
 तूने ही आखेट-रंग उपजाया मुक्में !”
 दशमुख को संग्राम, 'राम को थी वह क्रीड़ा,
 त्यितप्रज्ञ को दशों इन्द्रियों की कर्ण पीड़ा ?
 “धन्य पुष्यजन, धन्य शूरता तुम्हें से जन की,
 थीर, दूर कर कुटिल कूरता अब भी मन की ।

बल विकास के लिए, नाश के लिए नहीं है
 किन्तु रहे वह शक्ति न,—जिससे हास कहीं है ।
 “भय लगता है मनुज, तुझे तो क्यों आया था ?
 “अरे निशाचर, मुझे काल तेरा लाया था
 चिर परिचित तू जान त्राण-करुणा से मुझको
 भय से परिचित करा सके तो जानूँ तुझको !
 रिपु के सौ सौ शख वेगपूर्वक आते थे,
 कट जाते थे किन्तु, उन्हें कब छू पाते थे ।
 घिरा घोर घन, तड़ित्तेज चौका देता था,
 किन्तु पवन भट उसे एक झीका देता था !

पूर्व अथन पर कौन रोकता रामानुज को ?
 हुए सुभुज वे सिद्ध - योग - से राक्षस - युग को ।
 निकुम्भला मे मेघनाद साधन करता था ,
 विजय-हेतु निज इष्ट-समाराधन करता था ।
 नल-वन-सम दल शशु जनों को, वे भुज-बल से ;
 पुर में हुए प्रविष्ट, जलधि में बहवानल-से ।
 अंगदादि भट संग गये अपने को चुनके ,
 उड़ते-से अगार हुए वे उत्कट उनके ।

हलचल - सो मच गई, कोट ३-१, या ?—
 अरि - दल पीछे जा न सका, ३-१। १।

रावण ने चाहा कि लीट २-२,
 गरजे प्रभु—“धिक भीरु ! पीट २-२”
 इसे समझ रख, आज भाग १-१
 गरजा रावण—“अटक, कहाँ २-२”
 भय क्या, पक्षी आज स्वयं १-१
 तू भी उसकी दशा देखियो, १-१
 उधर हाँक सुन हनूमान की १-१
 “मैं वह हूँ जो जला गया था १-१
 मेघनाद ही हमें चाहिए आज १-१
 पहुँचे सब निज यज्ञ-लक्ष्य था १-१
 भीयण भी भट-मूर्ति अहा ! क्या भ १-१
 रक्त-मांस की नहीं, धातु की ढली १-१
 वेदों भट्टी वनी,—छोड़ती थी १-१
 पहनाती थी उसे आप वह १-१
 पशु-बलि देकर बलों शख - पूजन १-१
 अस्फुट मन्त्रोद्धार कलित - कूजन १-१
 ठिठक गये सब एक साथ पल भर १-१
 बोले तब सौमित्रि भड़ककर दा

“अरे इन्द्रजित, देख, द्वार पर शत्रु खड़ा है,
 करता उससे विमुख कौन तू कर्म बड़ा है ?
 जिसके सिर पर शत्रु, धर्म उसका—वह जूझे,
 किन्तु पतित तू आर्य-मर्म क्या समझे बूझे !”

चींक हृतप्रभ हुआ शत्रु—“कैसे तू आया ?
 घर का भेदी कौन—यहाँ जो तुझको लाया ?”

“अरे, काल के लिए कौन पथ खुला नहीं है ?
 आता अपने आप अन्त तो सभी कही है।
 मैं हूँ तेरा अतिथि युद्ध का भूखा, लातू,
 कर ले कुछ तो धर्म,—‘अतिथि-देवो भव’—आ तू !”

“लक्ष्मण, तुझसा अतिथि देख मैं क्व ढरता हूँ !
 पर कह, क्या यह धर्म नहीं जो मैं करता हूँ ?”

“कौन धर्म यह—शत्रु खडे हुङ्कार रहे हैं—
 तेरे आयुध यहाँ दीन पशु मार रहे हैं।”

“करता हूँ मैं वैरि-विजय का ही यह साधन !”

“तब है तेरा क्षट मान यह देवाराधन !
 ठहर, ठहर, बस, वृथा बचना न कर अनल की,
 कर केवल कर्त्तव्य, छोड़ दे चिन्ता फल की !”

“लक्ष्मण, मेरी शक्ति अभी वया भूल गया तू ?
 मरते मरते बचा, इसीसे फूल गया तू ?”

"देखी तेरी शक्ति, उसीपर तू इतराया ?—
 जिसको मेरी एक जड़ी ने ही छितराया ।
 है क्या कोई युक्ति यहाँ भी, बतला मुझको,
 जो तेरा सिर जोड़ जिला दे फिर भी तुझको ?
 । यह तो हुआ विनोद किन्तु सचमुच मैं भाई,
 देने आया तुम्हे उसोके लिए बधाई ।
 ' बंधा है क्यों छिपा, अनोखे आयुधधारी ?
 उठ, प्रस्तुत हो देख तनिक अब मेरी बारो ।"
 "पूरण वर्णना यज्ञ आज तेरी बलि देकर—"
 खड़ा हो गया शूर सर्प - सा आयुध लेकर ।
 हुआ वहाँ सम - समर अनोखा साज सजाकर,
 देते थे पद - ताल उभय कर लौह यजाकर ।
 शब्द शब्द से शब्द शब्द से, धाव धाव से,
 स्पर्ढा करने लगे परस्पर एक भाव से ।
 होकर मानो एक प्राण दोनों भट - भूपण,
 दो देहों को मान रहे थे निज निज दूपण ।
 प्राणों का परण लगा लगाकर दोनों लक्षी,
 उड़ा उड़ाकर लड़ा रहे थे निज निज पक्षी ।
 कौतुक - सा या मचा एक परने - जोने का,
 सगर मानो रण हुआ या रस पीने का ।

कम से बढ़ने लगी युगल चोरों की लालों ,
तालों देकर नाच रहे थे छद्म कपालों ।
ब्रण - माला थी बनो जपा फूलों की डालों ,
रण - चण्डों पर चढ़ो बढ़ो काली मतवालों ।

हुए सशंकित देव—कौन जय - वर पावेगा ?
धर्म न क्या निज हानि आज भी भर पावेगा ।
हँसकर विधि को हेर कहा हरि ने—“क्या मन है ?
देव जन्तों का यही शेष पौरुष - साधन है !”
इधर गरजकर मेघनाद बोला लक्ष्मण से—
“तूने निज नर - नाट्य किया प्राणों के पण से ।
इस पौरुष के पड़े अमर - पुर में भी लाले ,
किन्तु मत्यं, तू पड़ा आज राक्षस के पाले !”
“मेघनाद, है विफल, उगलता है जो विष तू ,
मत कर अपनी आप बड़ाई मेरे मिष तू ।
जीवन क्या है, एक जूझना मात्र जनों का ,
और मरण ? वह नया जन्म है पुरातनों का ! ,
किन्तु बिगाड़ा जन्म जनक तेरे ने जैसा ,
तुम्हको पैतृक रोग भोगना होगा वैसा ।

जन्मान्तर के लिए जान रख, जो पातक है,
 वह अपना ही नहीं, वश का भी घातक है।
 यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधु ऊमिला को हो जाना,
तो, वस, अब तू संभल, वाण यह मेरा छूटा,
रावण का वह पाप - पूर्ण हाटक - घट फूटा !”
हुआ सूर्य - सा अस्त इन्द्रजित लकापुर का,
शून्य भाव या गगन - रूप रावण के उर का !

इधर ऊमिला वधु - वदन - लज्जा की लाली—
फूली सन्ध्या प्राप्त कर रही थी दीपाली !

जगकर मानो एक बार, जय जय जय कहकर,
 पुन, स्वप्न - सा देख उठे सब नीरव रहकर।
 अब थी प्रकट अशोक - वाटिका मे बैदेही,
 करुणा की प्रत्यक्ष अधिष्ठात्री क्या ये ही।
 स्वय वाटिका बनी विकट थी भाड़ी उनकी,
 त्रक्षसिंह थी घनी - कटोली बाड़ी उनकी।
 उन दोनों के बीच घिरी थी देवी सीता,
 राजस - तामस - मध्य साहिवकी वृत्ति पुनीता।

एक विभीषण-वधू उन्हे धीरज देती थी ,
 या प्रतिमा-सी पूज आप वह वर लेती थी ।
 “अब प्रभु के ही निकट देवि, अपने को जानो ,
 मैथनाद क्या मरा, मरा रावण ही मानो ।
 सारी लवा आज रो रही है सिर धुनकर ,
 रावण मूर्च्छन हुआ शुभे, रथ मे ही सुनकर ।
 प्रभु बोले—‘रठ, जाग, वाण प्रस्तुत है मेरा ,
 मैं सह मवता नहीं दुख रावण, अब तेरा ।’
 मेरे स्वामी धन्य, हुए उनके पद - सेवी ,
 अरि का भी यो दुख जिन्हे दुस्सह है देवी ।
 रहता कही सचेत समर मे रावण, क्षण भर ,
 उसे आज ही शोक - मुक्त करते उनके शर ।”
 तब भीता ने कहा पोद्ध आँखो का प्रनी—
 “सरमे, क्या हैं तुम्हें ? जियो लका की रानी ।”
 “वसुधा का राजत्व निद्यावर तुम पर साध्वी ,
 रखे मुझको मत्त इन्हीं चरणों की माध्वी ।
 तुम सोने की सती मूर्ति, शम दम की दीक्षा ,
 दी है अपनी यहाँ जिन्होंने अग्नि-परीक्षा ।”

भरकर श्वासोच्छ्वास अयोध्या-वासो जागे ,
 दीख पडे गुरुदेव सभीको अपने ग्रागे ।
 बोले मुनि—“सब लोग सजाओ अपने मन्दिर ,
 अपनी उस चिर-अजिर-मूर्ति को पाथो फिर फिर ।”
 गूँजा जय जय नाद, गर्व छाया जन जन मे ,
 वह उमडा उत्साह लगा स्वागत-साधन मे ।
 सैन्यजनो ने फेंट अनिच्छा पूर्वक खोली ,
 “निकली नही उमग ?” बोर-बधुए हँस बोली—
 “वानर यश ले गये ।” “प्रिये, देखा है सब तो ,
 अश्वमेध की बाट जोहनी होगी अब तो !”

मञ्जन पूर्वक सुधा नीर से पुरी नहाई ,
 उसपर उसने वर्ण वर्ण की भूपा पाई ।
 लिख बहु स्वागत-वाक्य सुपरिचय दे रति-मति का ,
 वासकसञ्चा बनी देखती थी पथ पति का !

आया, आया, किसी भाँति वह दिन भी आया ,
 जिसमे भव ने विभव, गेह ने गौरव पाया ।
 आये पूर्व-प्रसाद-रूप-से मारुत पुर मे ,
 प्रकटे फिर, जो छिपे हुए थे सबके उर मे ।

अपनो के ही नहीं, परो के प्रति भी धार्मिक, कुनी प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्ग मर्यादा-मार्मिक, राजा होकर गृही, गृही होकर सन्यासी, प्रकट हुए आदर्श-रूप घट घट के वासो। पाया, हाँ, आकाश-कुसुम भो हमने पाया, फैलाता निज गन्ध गगन मे पुष्पक आया। अगणित नेत्र-मिलिन्द उडे, प्रभु गुण-रब छाया, मानुष - मानस लाख तरगो से लहराया।

भुक्ति विभीषण और मुक्ति रावणा को देकर, विजय सखी के सग शुद्ध सीता को लेकर—

दाक्षिणात्य-लकेश अतिथि लाकर मन भाये, आतिथेय ही बने लक्ष्मणाग्रज घर आये। भरत और शशुभ्र नगर तोरण के आगे, मानो थे प्रतिविम्ब प्रथम ही उनके जागे। कहा विभीषण ने सुकण्ठ से सुध-सी खोकर— 'प्रकटित सानुज राम आज दुगुने-से होकर !'" वर विमान से क़ूद, गरुड से ज्यो पुरुषोत्तम, मेले भरत से राम क्षितिज मे सिन्धु-गगन सम !

“ उठ, भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है ,
 तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पढ़ा है ।
 ‘गये चतुर्दश वर्ष, यका मैं नहीं अभण मे ,
 विचरा गिरि वन-सिंधु पार लका के रण मे ।
 श्रान्त आज एकान्त रूप-सा पाकर तुझको ,
 उठ, भाई, उठ, भेट, अक मे भरले मुझको ।
 मैं वन जाकर हँसा, चिन्तु घर आकर रोया ,
 खोकर रोये सभी, भरत, मैं पाकर रोया ।”
 “आर्य, यही अभियेक तुम्हारे भृत्य भरत का ,
 अन्तर्वाहा अशेष आज कृतकृत्य भरत का ।”
 पूरी भी थो युगल मूर्तियाँ अब तक ऊनी ,
 मिल होकर भी एक, हर्षमय थी अब दूनी ।
 हिल हिलकर मिल गईं परस्पर लिपट जटाएँ ,
 मुख - चन्द्रों पर भूम रहो थी धूम घटाएँ ।

साधु भरत के अथु गिरें चरणो मे जब लो ,
नयनो मे ही भरे सतो सीता ने तब लों ।
 लता - मूल का सिंचा सलिल फूलो मे फूटा ,
 फैला वह रस - गन्ध सर्वदा सबने लूटा ।

देवर - भाभी मिले, मिले सब भाई भाई,
 वरसे भू पर फूल, जयध्वनि ऊपर आई।
 भरत मिले सुग्रीव - विभीषण से यह कहकर—
 'सफल वन्धु - सम्बन्ध हमारा तुमसे रहकर।'

पैदल ही प्रभु चले भोड के सग पुरी मे,
 सधर्पित थे आज अग से अग पुरी मे।
 अहा ! समाई नही अयोध्या फूली फूली,
 तब तो उसमे भीड अमाई ऊली ऊली।
 पुरकन्याएँ शील - फूल - धन वरसाती थी,
 कुल - ललनाएँ धरे भरे शुभ घट, गाती थी—
 "आज हमारे राम हमारे घर फिर आये,
 चारो फल है इसी लोक मे हमने पाये।"
 हार हार पर भूल रही थी शुभ मालाएँ,
 झलती थी ध्वज व्यजन शील शीला शालाएँ।
 राज - मार्ग मे पडे पाँवडे फूल भरे थे,
 कान्त लिये थे भरत, चौर शत्रुघ्न धरे थे।
 माताओ के भाग आज सोते से जागे,
 पहुँचे पहुँचे राम राज - तोरण के आगे।

न कुछ कह सकी, न वे देख ही सकी सुतो को ,
 रोकर लिपटी उठा उठा उन प्रणति - युतो को ।
काँप रही थी हर्ष - भार से तीनो थर थर,
लुटा रही थी रत्न आज वे तीनो भर भर।
 लिये आरती वे उत्तारती थी तीनो पर ,
 क्या था, जिसे न आज वारती थी तीनो पर ।
दिन था मानो यही वधू - वर के लेने का,
 जो जिसको हो इष्ट, वही उसको देने का ।
 “वहू, वहू, वेदेहि, वडे दुख पाये दूने ।
 “माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने
 “आया फिर तू राम, कोख मे मानो मेरी
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु - शंया तेरी
 “जन्म जन्म मे यही कोख जननो, मैं पाऊं
 “माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद मे पलता आऊं
 सुप्रभ प्रभु ने कहा सुभिना से नत होकर
 “पाया मैंने अम्ब, पुन लक्ष्मण को खोकर
 रख न सका मैं हाय । दिया । ने तुमने

लिया अन्य का भार भरत ने, मैं अब हल्की,
तुमको पाया, रही कामना फिर किस फल की ?”

समझो प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,
“मूल शक्ति माँ, तुम्ही सुयश के इस उपवन की ।
फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मीठे,
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे ।”

“भागी हो तुम वत्स राम रधुवर, भव भर के,
कंकेयी के दोष लिये तुमने गुण करके,
ढोया जोवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने,
पाकर तुम्हे परन्तु भरत को पाया मैंने !”
मिल वहनो से हुई चौगुनी सचमुच सीता,

गाई प्रभु ने बधू ऊमिला की गुणनीता—
“तूने तो सहघर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर !”

मानो मजित हुई पुरी जय जय के रव मे,
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव मे ।

न कुछ कह सकी, न वे देख ही सकी सुतो को ,
रोकर लिपटी उठा उठा उन प्रणति - युतो को ।

कांप रही थी हृष्ट - भार से तीनो थरथर ,
लुटा रही थी रत्न आज वे तीनो भर भर ।
लिये आरती वे उत्तारती थी तीनो पर ,
क्षण था, जिसे न आज वारती थी तीनो पर ।
दिन था मानो यही वधू - वर के लेने का ,
जो जिसको हो इष्ट, वही उसको देने का ।

“वहू, वहू, वैदेहि, बडे दुख पाये तूने ।”

“माँ, मेरे सुख आज हुए हैं दूने दूने ।”

“आया फिर तू राम, कोख मे मानो मेरी ,
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु - शंया तेरी ।”

“जन्म जन्म मे यही कोख जननो, मैं पाऊँ ।”

“माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद मे पलता प्राऊँ ।”

सुप्रभ प्रभु ने कहा सुमिना से नत होकर—

“पाया मैंने अम्ब, पुन. लक्ष्मण को खोकर ।

रख न सका मैं हाय ! दिया मुझको जो तुमने ,

धन्य तुम्हारा पुण्य, प्राण पाये इस द्रुम ने ।”

“विन्तु तुम्हें ही सोंप चुकी हैं राम इसे मैं ,
लूँ फिर कैसे उसे, दे चुकी प्राप जिसे मैं ?

लिया अन्य का भार भरत ने, मैं अब हल्की,
तुमको पाया, रही कामना फिर किस फल की ?”

समझी प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,
“मूल शक्ति माँ, तुम्ही सुयश के इस उपवन की !

फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मीठे,
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे !”

“भागी हो तुम वत्स राम रघुवर, भव भर के,
फैकेयी के दोप लिये तुमने गुण करके,
ढोया जीवन-भार, दुःख ही ढाया मैंने,
पाकर तुम्हे परन्तु भरत को पाया मैंने !”

मिल वहनों से हुई चौगुनी सचमुच सीता,

गाई प्रभु ने वधू कर्मिला की गुणनीता—

“तूने तो सहघर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर !”

मानो मज्जित हुई पुरी जय जय के रव मे,
पुरजन, परिजन लगे इधर अभियेकोत्सव में।

पाई प्रभु से इधर नई छवि राज - भवन ने ,
सागर का माधुर्य पी लिया मानो धन ने !

पाकर आहा । उमग ऊमिला - आंग भरे थे ,
आलो ने हँस कहा—“कहाँ ये रग भरे थे ?
सुप्रभात है आज, स्वप्न की सच्ची माया !
किन्तु कहाँ वे गीत, यहाँ जब श्रोता आया !
फडक रहा है वाम नेत्र, उच्छ्वसित हृदय है ।
अब भी क्या तन्वंगि, तुम्हें शंशय या भय है ?
आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिगार सजाऊँ ॥
वरसों को मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ ॥
“हाय ! सखी, शृङ्गार ? मुझे अब भी सोहेंगे ॥
क्या वस्तालंकार मात्र से वे मोहेंगे ॥
मैंने जो वह ‘दग्ध - वर्तिका’ चित्र लिखा ॥
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा ॥
नहीं, नहीं, प्राणेश मुझीसे छले न जा ॥
जैसी है मैं, नाय मुझे वैसा ही पा ॥
शूर्पंगखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती ॥
जैसे जड़ा जैसे जोड़ा जड़ा जैसे जोड़ी ॥

“किन्तु देख यह वेश दुखो होगे वे किनने ?”

“तो, ला भूपण - वसन, इष्ट हों तुम्हको जितने ।

पर यौवन - उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?

वह खोया घन आज कहाँ ससि, पाऊँगो मैं ?”

“अपराधो - सा आज वही तो आने को है,

बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है ।

कल रोती थी आज मान करने वैठो हो,

कौन राग यह, जिसे गान करने वैठो हो ?

रवि को पाकर पुनः पद्मिनी लिल जाती है,

पर वह हिमकण विना कहाँ शोभा पातो है ?”

“तो क्या आँसू नहीं सखो, अब इन आँखों मे ?

फूटें, पानी न हो वड़ी भी जिन आँखों मे ?”

“प्रोति-स्वाति का पिया शुक्ति बन बनकर पानी,

राजहंसनी, चुनो रीति - मुक्ता अब रानी !”

“विरह रुदन में गया; मिलन में भी मैं रोऊँ,

मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद - रज धोऊँ ।

जब थी तब थी आलि, ऊमिला उनकी रानी,

वह बरसो को बात आज होगई पुरानी !

अब तो केवल रहे सदा स्वामो की दासी,

मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी ।

युवती हो या आलि, झर्मिला बाला तन से ,
 नहीं जानती किन्तु स्वयं, क्या है वह मन से !
 देखूँ, कह, प्रत्यक्ष आज अपने सपने को ?
 या सज-वजकर आप दिखाऊँ मैं अपने को ?
 सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको ,
 लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है तुझको !
 उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली ,
निरख तनिक तू आज ढीठ सन्ध्या की लाली !
 मान करूँगी आज ? मान के दिन तो बोते ,
 फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते ।
 टपक रही वह कुञ्ज-शिला वालो शेफाली ,
 जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली !
 बनवासी के लिए चुम्बन की भैंट भली वह !”
 “किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह !”
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखो किघर थी ?
पैरों पड़ती हुई झर्मिला हाथों पर थी !

लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में ,
 समा रहे थे ए - रे ने वे न्न में ।

रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरो—

‘यह हत हरिणी छोड़ गये क्यों नये अहेरी ।’

“नाय, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैने पाया ?”

“प्रिये, प्रिये, हाँ आज—आज ही—वह दिन आया ।

मेघनाद की शक्ति सहन करके यह आती,

अब भी क्या इन पाद-पल्लवों से न जुड़ती ?

मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया खोया,

जिस दिन आर्या विना आयं का मन यां योपा—

पूर्ण रूप से सुनो, तुम्हें मैने कब पाया,

जब आर्या का हनुमान ने विरह सुनाया !

अब तक मानो जिसे वेषभूपा मे टाला,

अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला ।

आँखों में ही रही अभी तक तुम थी मानो,

अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो ।

परिधि-विहीन सुधांशु-सद्वश सन्ताप - विमोचन,

धूल रहित, हिम-धौत सुमन-सा लोचन - रोचन,

अपनी द्युति से आप उदित, आडम्बर त्यागे,

घन्य अनावृत - प्रकृत - रूप यह मेरे आगे ।

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,

कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी ।”

“स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी
 किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ - सवेरे !
 खोई अपनो हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ?
 प्रिय, जोवन की कहाँ आज वह चढती वेला ?”
काँप रही थी देह - लता उसकी रह रहकर,
टपक रहे थे अथु कपोलों पर वह बहकर।
 “वह वर्षा की वाढ, गई, उसको जाने दो,
 शुचि-गमीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।
 धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
 लाता है जो समय प्रेम-पूर्वक, लाने दो।

तुम सुनो, सदैव समीप है—
 जो अपना आराध्य है।
 आओ, हम साधें शक्ति भर,
 जो जीवन का साध्य है।

अलक्ष की बात अलक्ष जानें,
 समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?
 रहे वही प्लावित प्रोत्ति-धारा,
 आदर्श ही ईश्वर है हमारा ।”

स्वच्छतर अम्बर मे छनकर आ रहा था
 स्वादु-मधु-गन्ध से सुवासित समीर-सोम ,
 त्यागी प्रेम-याग के व्रती वे कृती जायापती
 पान करते थे गल बांह दिये, आपा होम ।
 कुद्र कास-कुश से लगाकर समुद्र तक ,
 मेदिनी मे किसका था भुदित न रोम रोम ?
 समुदित चन्द्र किरणो का चौर ढारता था ,
 भारती उत्तारता था दिव्य दीप वाला व्योम !

श्रीरामचरणार्पणमस्तु
 दीपावली
 सवत् १६८६ विक्रमी
 चिरगांव